पढ़ें और सीखें माला

शल्यचिकित्सा की

आदिम युग से आज तक

डॉ० यतीश अग्रवाल

विभागीय सहयोग

रामदुलार शुक्ल



राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

जून 1989
ज्येष्ठ 1911

P.D. 10 T–RA

प्रकाशन सहयोग

सी०एन० राव : **अध्यक्ष, प्रकाशन विभाग**

प्रभाकर द्विवेदी	**मुख्य संपादक**	यू० प्रभाकर राव	**मुख्य उत्पादन अधिकारी**
याकूब लकड़ा	**संपादक**	डी० साईं प्रसाद	**उत्पादन अधिकारी**
रेखा अग्रवाल	**संपादन सहायक**	चंद्र प्रकाश टंडन	**कला अधिकारी**
		प्रमोद रावत	**उत्पादन सहायक**

मूल्य : रु० 20.00

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित तथा अजन्ता ऑफसैट प्रिन्टर्स, वज़ीरपुर इंडस्ट्रियल एरिया दिल्ली 110052 द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

विद्यालय शिक्षा के सभी स्तरों के लिए अच्छे शिक्षाक्रम, पाठ्यक्रमों और पाठ्यपुस्तकों के निर्माण की दिशा में हमारी परिषद् पिछले पच्चीस वर्षों से कार्य कर रही है। हमारे कार्य का प्रभाव भारत के सभी राज्यों और संघशासित प्रदेशों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा है और इस पर परिषद् के कार्यकर्ता संतोष का अनुभव कर सकते हैं।

किंतु हमने देखा है कि अच्छे पाठ्यक्रम और अच्छी पाठ्यपुस्तकों के बावजूद हमारे विद्यार्थियों की रुचि स्वतः पढ़ने की ओर अधिक नहीं बढ़ती। इसका एक मुख्य कारण अवश्य ही हमारी दूषित परीक्षा-प्रणाली है जिसमें पाठ्यपुस्तकों में दिए गए ज्ञान की ही परीक्षा ली जाती है। इस कारण बहुत कम विद्यालय में कोर्स के बाहर की पुस्तकों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। लेकिन अतिरिक्त पठन में बच्चों की रुचि न होने का एक बड़ा कारण यह भी है कि विभिन्न आयुवर्ग के बच्चों के लिए कम मूल्य की अच्छी पुस्तकें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध भी नहीं हैं। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में इस कमी को पूरा करने के लिए कुछ काम प्रारंभ हुआ है पर वह बहुत ही नाकाफ़ी है।

इस दृष्टि से परिषद् ने बच्चों की पुस्तकों के लेखन की दिशा में एक महत्त्वाकांक्षी योजना प्रारंभ की है। इसके अतंर्गत 'पढ़ें और सीखें' शीर्षक से एक पुस्तकमाला तैयार करने का विचार है जिसमें विभिन्न आयुवर्ग के बच्चों के लिए सरल भाषा और रोचक शैली में अनेक विषयों पर बड़ी संख्या में पुस्तकें तैयार की जाएँगी। हम आशा करते हैं कि बहुत शीघ्र ही हिन्दी में हम निम्नलिखित विषयों पर 50 पुस्तकें प्रकाशित कर सकेंगे।

(क) शिशुओं के लिए पुस्तकें
(ख) कथा-साहित्य
(ग) जीवनियाँ
(घ) देश-विदेश परिचय
(ङ) सांस्कृतिक विषय
(च) वैज्ञानिक विषय
(छ) सामाजिक विज्ञान के विषय

इन पुस्तकों के निर्माण में हम प्रसिद्ध लेखकों, वैज्ञानिकों, अनुभवी अध्यापकों और योग्य कलाकारों का सहयोग ले रहे हैं। प्रत्येक पुस्तक के प्रारूप पर भाषा, शैली और विषय-विवेचन की दृष्टि से सामूहिक विचार करके उसे अंतिम रूप दिया जाता है।

परिषद् इस माला की पुस्तकों को लागत-मूल्य पर ही प्रकाशित कर रही है ताकि ये देश के हर कोने में पहुँच सकें। भविष्य में इन पुस्तकों को अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद कराने की भी योजना है।

हम आशा करते हैं कि शिक्षाक्रम, पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों के क्षेत्र में किए गए कार्य की भाँति ही परिषद् की इस योजना का भी व्यापक स्वागत होगा।

प्रस्तुत पुस्तक 'कहानी शल्यचिकित्सा की' के लेखन के लिए डा० यतीश अग्रवाल ने हमारा निमंत्रण स्वीकार किया जिसके लिए हम उनके अत्यंत आभारी हैं। जिन-जिन विद्वानों, अध्यापकों और कलाकारों से इस पुस्तक को अंतिम रूप देने में हमें सहयोग मिला है उनके प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

हिन्दी में 'पढ़ें और सीखें' पुस्तक माला की यह योजना प्रो० अनिल विद्यालंकार के मार्ग-दर्शन में चल रही है। उनके सहयोगियों में श्रीमती संयुक्ता लूदरा, डा० रामजन्म शर्मा, डा० सुरेश पांडेय, डा० हीरालाल बाछोतिया और डा० अनिरुद्ध राय सक्रिय सहयोग दे रहे हैं।

इस योजना में विज्ञान की पुस्तकों के लेखन का मार्ग-दर्शन दिल्ली विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति और राजस्थान विश्वविद्यालय में वर्तमान प्रोफेसर- एमेरिटस डा० रामचरण मेहरोत्रा कर रहे हैं। विज्ञान की पुस्तकों के लेखन, संयोजन और अंतिम संपादन आदि का दायित्व हमारे विज्ञान एवं गणित शिक्षा विभाग के प्रो० रामदुलार शुक्ल वहन कर रहे हैं।

मैं डा० रामचरण मेहरोत्रा को और अपने सभी सहयोगियों को हार्दिक धन्यवाद और बधाई देता हूँ।

इन पुस्तकों को इतने अच्छे ढंग से प्रकाशित करने के लिए मैं परिषद् के प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष श्री सी०एन० राव और कार्यकर्ताओं, विशेषकर मुख्य संपादक श्री प्रभाकर द्विवेदी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

इस माला की पुस्तकों पर बच्चों, अध्यापकों और बच्चों के माता-पिता की प्रतिक्रिया का हम स्वागत करेंगे ताकि इन पुस्तकों को और भी उपयोगी बनाने में हमें सहयोग मिल सके।

पी०एल० मल्होत्रा
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली

आमुख

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन०सी०ई०आर०टी०) की "पढ़ें और सीखें" योजना के अंतर्गत यह एक छोटा सा प्रयास है। जब परिषद् के प्रगतिशील निदेशक डा० पी० एल० मल्होत्रा ने मुझे इस दिशा में विज्ञान के विषयों का कार्यभार संभालने के लिए आमंत्रित किया तो अपने वैज्ञानिक मित्रों की अतिव्यस्तता के कारण यह उत्तरदायित्व स्वीकार करने में मुझे संकोच था।

इस दिशा में मेरा प्रयास रहा है कि विज्ञान के विभिन्न विषयों के जाने-माने विद्वानों को इस सराहनीय कार्य के लिए आकर्षित कर सकूँ क्योंकि खोज और अनुसंधान की आनंदपूर्ण अनुभूतियों वाले वैज्ञानिक ही अपने "आनंद" की एक झलक बच्चों तक पहुँचा सकते हैं। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ कि उन्होंने अंकुरित होने वाली पीढ़ी के लिए अपने बहुमूल्य समय में से कुछ क्षण निकालने का प्रयास किया। कहते तो हम सब हैं कि 'बच्चे' राष्ट्र की सब से बहुमूल्य और महत्वपूर्ण निधि हैं परंतु मेरे लिए यह किंचित आश्चर्य और अधिक संतोष का अनुभव रहा है कि हमारे इतने लब्धप्रतिष्ठ और अत्यंत व्यस्त वैज्ञानिक "बच्चों" के लिए ऐसा परिश्रम करने के लिए सहर्ष मान गए है। मै सभी वैज्ञानिक मित्रों के प्रति हृदय से आभारी हूँ।

इन पुस्तकों की तैयारी में हमारा मुख्य ध्येय रहा है कि विषय ऐसी शैली में प्रस्तुत किया जाए कि बच्चे स्वयं इसकी ओर आकर्षित हों, साथ ही भाषा इतनी सरल हो कि बच्चों का इनके अध्ययन द्वारा विज्ञान के गूढ़तम रहस्यों को समझने में कोई कठिनाई न हो। इन पुस्तकों को पढ़ने में उनकी रुचि पैदा हो, उनके नैसर्गिक कौतूहल में वृद्धि हो जिससे ऐसे कौतूहल और उसके समाधान के लिए स्वप्रयत्न उनके जीवन का एक अंग बन जाए।

यह योजना राष्ट्रीय परिषद् के वर्तमान निदेशक डा० पी०एल० मल्होत्रा की प्रेरणा से प्रारंभ हुई है। मैं उन्हें इसके लिए बधाई और धन्यवाद देता हूँ।

डा० यतीश अग्रवाल ने इस पुस्तक के लिखने के लिए मेरा अनुरोध स्वीकार किया जिसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। परिषद् के विज्ञान एवं गणित शिक्षा विभाग के प्रो० रामदुलार शुक्ल विज्ञान की पुस्तकों के लेखन से संबंधित योजना के संयोजक हैं और बहुत परिश्रम और कुशलता से अपना कार्य कर रहे हैं। मैं इनको हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

आशा है कि ऐसी पुस्तकों से हमारी नई पीढ़ी के बाल्यकाल ही मे वैज्ञानिक मानसिकता का शुभारंभ हो सकेगा और विज्ञान के नवीनतम ज्ञान के साथ ही साथ उन्हें अपने देश की प्रगतियों एवं वैज्ञानिकों के कार्य की झलक मिल सकेगी जिससे उनमें अपने राष्ट्र के प्रति गौरव की भावना का भी सृजन होगा।

रामचरण मेहरोत्रा
अध्यक्ष
"पढ़ें और सीखें योजना"
(विज्ञान)



दो शब्द

शल्यचिकित्सा का इतिहास बहुत समृद्ध और रोमांचक रहा है। इसकी कहानी शायद उतनी ही पुरानी है जितना पुराना मनुष्य है। गुफाओं में रहता आदमी भी अपनी सोच-समझ के अनुसार अपने रोगों के इलाज की कोशिश करता था। लेकिन जैसे-जैसे उसने विकास किया, उसके अनुभवों की संपदा बढ़ती रही, वह उनसे सीखता गया। इसका असर उसके जीवन के हर पहलू पर पड़ा। चिकित्सा विज्ञान भी उससे अछूता न रहा। गंगा, नील और याङ्त्सी नदियों के किनारे विकसित हुई महान भारतीय, मिस्री और चीनी सभ्यताओं की गोद में विज्ञान और दर्शन के साथ-साथ चिकित्सा विज्ञान और शल्यचिकित्सा भी पले और बढ़े। फिर यह ज्ञान यूनान पहुँचा और वहाँ से पूरे यूरोप में फैलता चला गया। उस दौर में कुछ असाधारण शल्यचिकित्सक हुए, जिन्होंने नई सोच और नई जानकारी से शल्यचिकित्सा के नए आयाम खोजे।

मध्य युग में शल्यचिकित्सा को दुर्दिन भी देखने पड़े और स्थिति यह हो गई कि उसे हज्जामों की शरण में आना पड़ा।

लेकिन फिर अंधेरे बादल छटे। रोगियों को खून चढ़ाने की विधि, आपरेशन के समय उसे बेहोश कर सकने की तकनीक और रोगाणुओं से बचा सकने के 'एसेपसिस' सिद्धांत के जन्म से शल्यचिकित्सा जैसे एकाएक पुनर्जीवित हो उठी। उसके मुरझाये पौधे ने तेज़ी से विभिन्न शाखाओं वाले मजबूत वृक्ष का रूप ले लिया।

और आज आधुनिक शल्यचिकित्सा ने विकास की इतनी मंजिलें तय कर ली हैं कि असंभव लगने वाले आपरेशन सहज हो चले है और यह मनुष्यता को नया जीवन देने वाला विज्ञान बन गया है।

आदिम युग से आज तक शल्यचिकित्सा की आश्चर्य-भरी कहानी को, उसके निर्णायक क्षणों को संक्षेप में बतलाना आसान काम नही है। लेकिन डॉ० यतीश अग्रवाल ने इसे बहुत सहजता और रोचकता से किया है। इस पुस्तक में उन्होंने शल्यचिकित्सा के अतीत और वर्तमान को एक समग्र परिप्रेक्ष्य में आंकने का प्रयास किया है और साथ ही भविष्य की संभावनाओं का एक जीवंत खाका भी सामने रखा है।

लेखक ने खासकर युवा पाठकों को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक को बहुत रोचक और बहुत तथ्यपूर्ण शैली में लिखा है। इसमें शल्यचिकित्सा की समूची तस्वीर जिस जीवंतता से उजागर हुई है उससे यह किशोरों के साथ-साथ हर उम्र के पाठक वर्ग के लिए पठनीय बन पड़ी है।

गोपाल कृष्ण विश्वकर्मा
महानिदेशक
स्वास्थ्य सेवा महानिदेशालय
निर्माण भवन, नई दिल्ली

आभार

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् निम्नलिखित महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती है।

डॉ० गोपालकृष्ण विश्वकर्मा, महानिदेशक, स्वास्थ्य सेवा निदेशालय, नई दिल्ली
डॉ० ऋषि कुमार श्रीवास्तव, प्रोफेसर सर्जरी विभाग एवं प्रिंसिपल, बी०जे० मेडिकल कालेज, पुणे
डॉ० विश्वनाथ बैज़ल, रेडियोलाजिस्ट, सफदरजंग अस्पताल, नई दिल्ली
डॉ० एस०पी० बजाज, प्लास्टिक सर्जन, राम मनोहर लोहिया अस्पताल, नई दिल्ली
डॉ० ए०के० बैनर्जी, अध्यक्ष, न्यूरोसर्जरी विभाग, अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली
डॉ० पी०बी० दास, वरिष्ठ कार्डियोवेस्क्युलर सर्जन, न्यूयॉर्क
डॉ० पी०एस० सहारिया, वरिष्ठ ई०एन०टी० सर्जन, राम मनोहर लोहिया अस्पताल, नई दिल्ली
डॉ० रमेश बिजलानी, प्रोफेसर, शरीर-क्रिया विज्ञान, अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली
डॉ० आर०पी० कुमार, बी०बी० दीक्षित लाइब्रेरी, अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली
श्री एन०के० वधवा, प्रमुख, डोक्यूमेटेशन यूनिट, अमरीकी सूचना केन्द्र (यू०एस०आई०एस०) नई दिल्ली
श्री लक्ष्मीनारायण, फोटो यूनिट, भारतीय पुरातत्व विभाग, नई दिल्ली

गांधी जी का जन्तर

तुम्हें एक जन्तर देता हूं। जब भी तुम्हें सन्देह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ :

जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा ? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा ? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है ?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

मो. क. गांधी

लेखक परिचय

डॉ० यतीश अग्रवाल, एम०बी०,बी०एस०, एम०डी०

वरिष्ठ डाक्टर और हिंदी में चिकित्साविज्ञान के सुप्रसिद्ध लेखक। हिंदी अकादमी, दिल्ली द्वारा वर्ष 85-86 का बाल-साहित्य पुरस्कार व सम्मान। यूनिवर्सिटी कालेज आफ मेडिकल सांइसेज से एम०बी०,बी०एस०, सुविख्यात वल्लभभाई पटेल चेस्ट इंस्टीट्यूट से पोस्ट ग्रेजुएट अध्ययन तथा दिल्ली विश्वविद्यालय से रेडियोडाएगनोसिस में डाक्टर आफ मेडिसिन।

देश की प्रमुख हिंदी-अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में अनेक लेख प्रकाशित। कुछ पत्रिकाओं के लिए नियमित स्तंभ लेखन। रेडियो से कई फीचर, कहानियाँ, कविताएँ और वार्ताएँ प्रसारित। सेंट्रल इंस्टीट्यूट आफ एजुकेशनल टेक्नालाजी द्वारा तैयार की जा रही स्वास्थ्य संबंधी फिल्मों के लिए सलाहकार।

प्रमुख पुस्तकें:-

रक्त की कहानी — नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली (अंग्रेजी सहित बारह भाषाओं में अनूदित)।

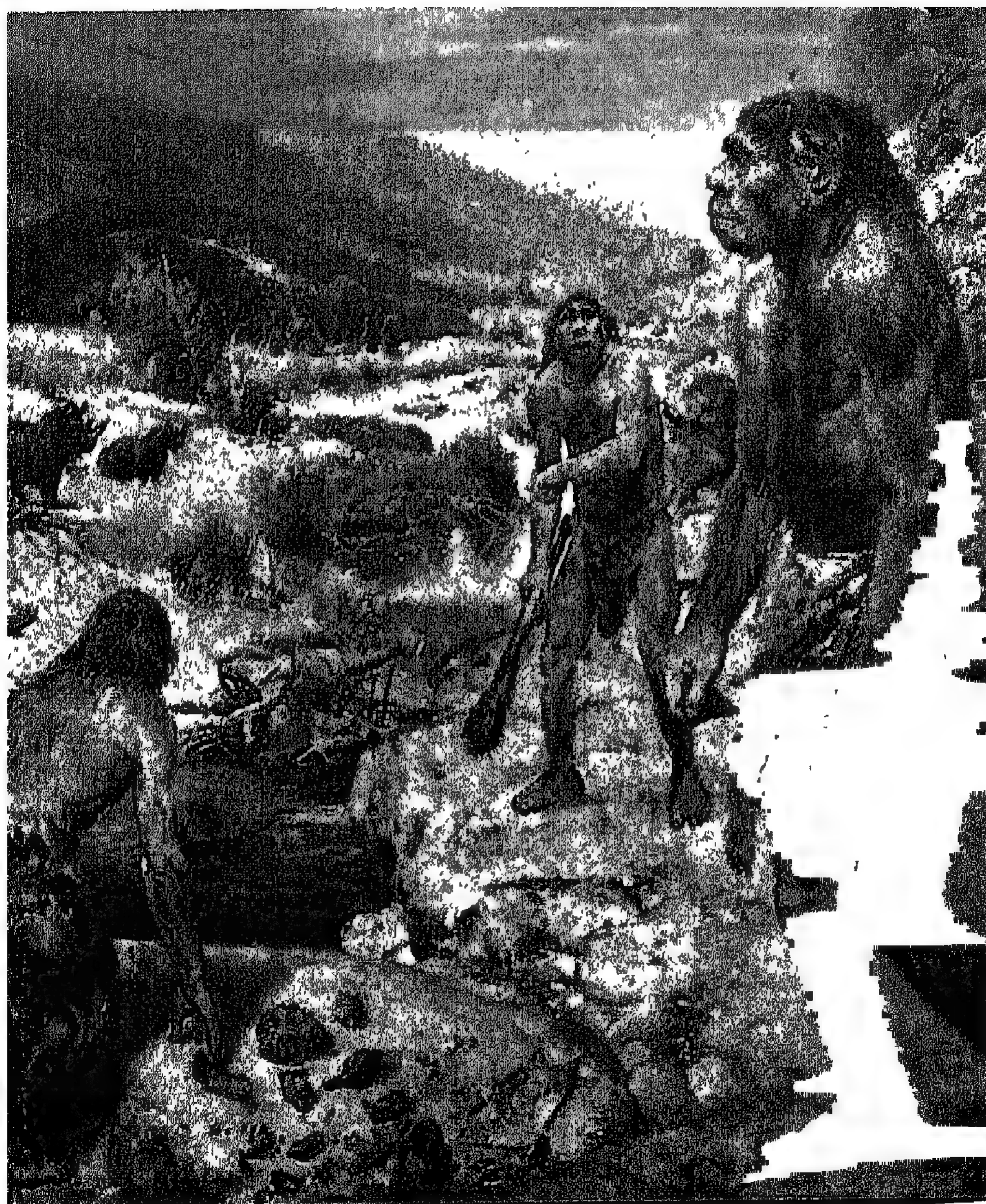
चिकित्सा विज्ञान की कहानियाँ — राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली।

स्वास्थ्य के 200 सवाल — रूपा एंड कंपनी, नई दिल्ली।

साधिए असाध्य रोग — प्रकाशन विभाग, भारत सरकार द्वारा शीघ्र प्रकाश्य।

संप्रति — सफदरजंग अस्पताल, नई दिल्ली में कार्यरत।

अनुक्रम



कबीले के बीच

आग की धधकती लपटें आसमान को छूने लगी थीं। बाँह में बाँह डाले कबीले के लोग उसके चारों ओर एक घेरा बनाकर नाच रहे थे। साथ ही मंत्रों का जाप चल रहा था। बीच-बीच में स्वर जोशीले हो जाते। दूर-दूर तक वातावरण उनकी चीख-चिल्लाहट से गूँज उठता।

स्वरों का गुंजन जैसे-जैसे तेज़ हो रहा था, उनके शरीर की थिरकन भी बढ़ती जा रही थी। अग्नि का तेज़ प्रकाश उनकी अर्धनग्न काया के साथ आँखमिचौनी खेल रहा था। जब-जब वे अग्नि के निकट आते, मौसम के प्रहार से कठोर हुए उनके बदन चमक उठते।

जाप करते, चिल्लाते, थिरकते लोगों के इस समूह से कुछ अलग, अग्नि की लौ के ठीक पास कुछ लोग देखे जा सकते थे। एक लंबा-सा व्यक्ति था, जो कुछ बुदबुदा रहा था। शायद वह भी जाप कर रहा था। उसके शरीर पर जानवरों की खाल से बना एक चोग़ा था और गले में हड्डियों की एक माला। कबीले का पुरोहित होने के साथ-साथ वह उनका चिकित्सक भी था। उसके पास ही एक वृद्ध व्यक्ति बैठा था। उसकी कमर उम्र के दबाव से झुक गई थी, किन्तु उसकी आँखों में चमक अब भी शेष थी। वह कबीले का मुखिया था।

इनके साथ ही एक नवयुवक औंधा लेटा था। रुक-रुक कर उसका

शरीर अकड़ जाता था। हाथ पैर खुद-ब-खुद मुड़-तुड़ रहे थे। किन्तु जब-जब उसे होश आता उसके चेहरे पर भय और तनाव की रेखाएँ उभर आती थीं। यह नवयुवक बहुत दिनों से बीमार था।



कबीले का चिकित्सक

उधर स्वरों के कंपन, अग्नि की तपन और बेसुध शरीरों की थिरकन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। तभी मुखिया का आदेश हुआ। और पल भर में चारों ओर चुप्पी छा गई। स्वर मौन हो गए, शरीर निश्चल! मानो एकाएक वातावरण में ठहराव आ गया हो।

अब मुखिया के आदेश पर एक मोटे-तगड़े व्यक्ति ने बीमार नवयुवक को अपने कंधे पर डाल लिया। फिर वे सभी मुखिया के पीछे-पीछे एक कतार में पगडंडी के रास्ते गुफ़ा की ओर बढ़ चले।

कुछ ही दूरी पर थी वह गुफ़ा। वहाँ द्वार पर पहले से ही आग जली हुई थी। इससे गुफ़ा के भीतर भी प्रकाश फैल रहा था। कबीले के लोग वहीं ठहर गए। मुखिया ने पुरोहित-चिकित्सक से कुछ बात की और फिर वह गुफ़ा में प्रवेश कर गया। उसके पीछे-पीछे चिकित्सक और दो-तीन अन्य लोग भी दाखिल हुए। इनमें वह व्यक्ति भी था जिसने बीमार नवयुवक को अपने कंधे पर उठा रखा था।



आदिकाल का मानव

मुखिया की अनुमति ले चिकित्सक अब तैयारी में जुट गया। मृग-छाला में लिपटे, संजो कर रखे हुए चीर-फाड़ के औज़ार उसने बाहर निकाले। ये औज़ार पत्थरों को तरह-तरह का रूप देकर बनाए गए थे। तब तक धातु की खोज नहीं हुई थी।

चिकित्सक ने अपना सिर झुकाया, दोनों हाथों को आसमान की ओर फैलाया और कुछ बुदबुदाने लगा। कुछ ही क्षणों के बाद वह तेज़ी से उठ बैठा। उसने पास खड़े दो हट्टे-कट्टे व्यक्तियों को आदेश दिया कि वे बीमार नवयुवक का सिर कस कर पकड़ लें। फिर उसने अपने बाएँ हाथ की अँगुलियों से नवयुवक के केश ऊपर उठाए। एक तेज़ धारवाले पत्थर से उसने उन्हें साफ किया। फिर उसने रोगी की खोपड़ी की त्वचा पर छह इंच का एक गोलाकार निशान बनाया। सधे हुए हाथों से अपना कौशल दिखाते हुए, उसने त्वचा सहित बाहरी ऊतकों को काटकर ऊपर उठाया। फिर वह पूरी सावधानी के साथ कपाल की हड्डी पर एक पैने पत्थर से प्रहार करने लगा। जब सिर के उस भाग की हड्डी लगभग अलग हो गई तो उसने पत्थर से बना एक चाकू लिया और कुछ ही क्षणों में उस हड्डी के अंश को कपाल के शेष हिस्से से पूरी तरह अलग कर दिया। इस दौरान न जाने वह रोगी कब बेहोश हो गया। मूर्छित अवस्था में ही उस नवयुवक को घास से बनाए गए बिछौने पर लिटा दिया गया। उसके सिर के घाव पर नाना प्रकार की जड़ी-बूटियों से तैयार सुगंधित लेप लगा दिया गया।

चिकित्सक ने गर्व से कहा कि नवयुवक के रोग का कारण अब दूर हो गया है। सिर में सूराख़ होने से उसके भीतर कैद शैतान की रूह बाहर निकल गई है।

यह सुन कबीले के लोग हर्षोल्लास से भर उठे। मुखिया के आदेश पर वे अपनी-अपनी झोपड़ियों की ओर चल दिए। वहाँ अब केवल रोगी नवयुवक, चिकित्सक और दो-तीन लोग ही रह गए थे।

कबीले का एक नवयुवक इस समूचे आपरेशन को बड़े ध्यान से देख रहा था। वह चित्रकार था। इससे पहले कि दिन डूबे, उसने अपने औज़ार लिए और गुफा की ही एक दीवार को तराशना शुरू कर दिया। कैसे-कैसे, क्या-क्या घटित हुआ उसका साक्षात् चित्रण उसने गुफ़ा की दीवारों पर कर दिया।

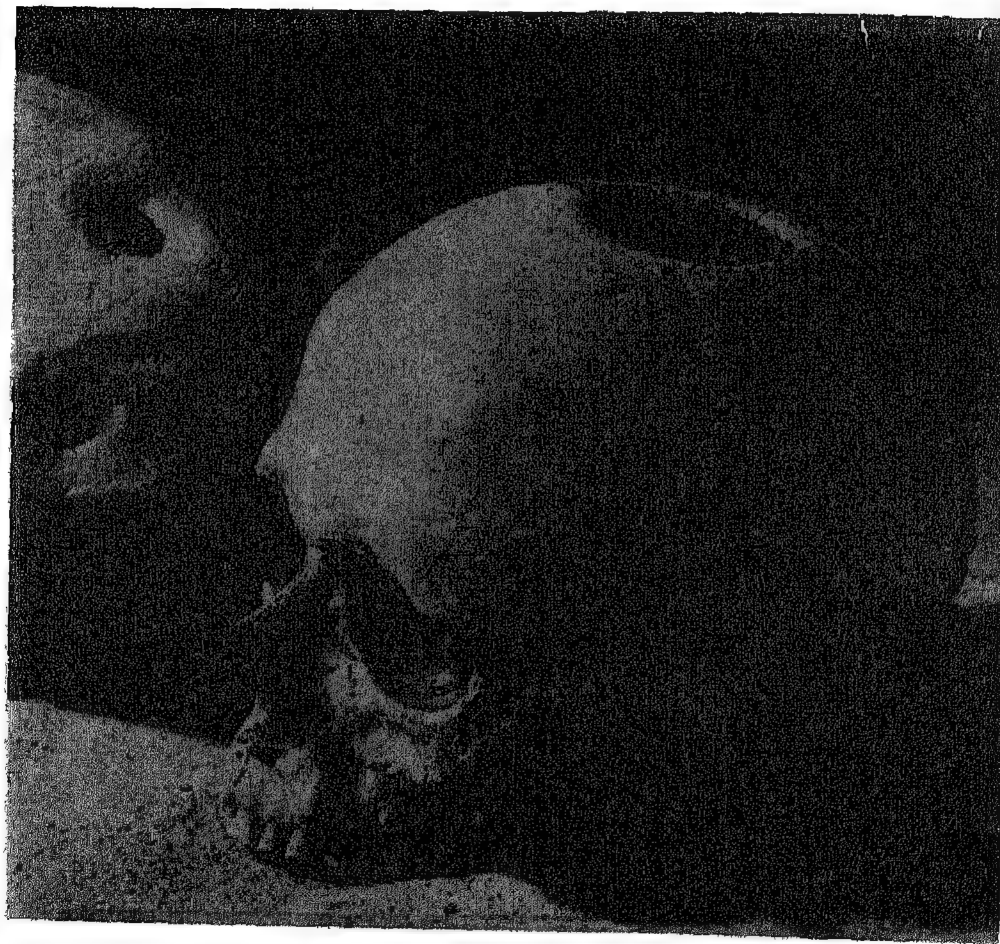
आधुनिक काल में पुरातत्व विशेषज्ञों ने जब आदिमानव की कहानी लिखनी चाही तो भूमि के गर्भ में दबे मिले मानव-कंकालों के साथ-साथ गुफ़ाओं में खुदे हुए ये चित्र वरदान साबित हुए। विशेषज्ञों का कहना है कि खोपड़ी का यह आपरेशन नव-पाषाण युग में हुआ होगा। इस आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि शल्यचिकित्सा कम से कम आठ दस हज़ार वर्ष पुरानी तो है ही।

नव पाषाण युग वह समय था जब मनुष्य छोटे-छोटे कबीले बनाकर रहने लगा था। उसने फ़सल उगाना सीख लिया था। और पत्थरों को अपनी ज़रूरत के अनुसार तरह-तरह की बनावट में तराश कर औज़ार बनाना जान लिया था।

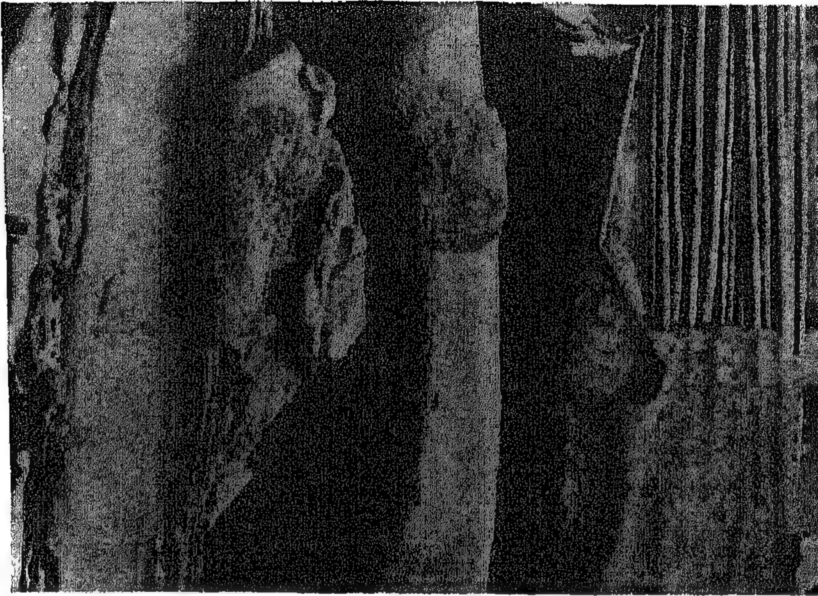
ये आपरेशन वह क्यों करता था? विशेषज्ञों का अनुमान है कि मिरगी, लंबे समय से चले आ रहे सिर के दर्द और पागलपन के लिए ही वह इस तरह के आपरेशन का सहारा लेता था। उस समय वह यह नहीं जानता था कि रोग क्यों होते हैं। वह मानता था कि रोग प्रेत-आत्माओं अथवा देवी-देवताओं के प्रकोप के कारण होते हैं। उसे विश्वास था कि सिर में सूराख़ करने से प्रेत-आत्माएं बाहर आ जाएंगी और रोग दूर हो जाएगा।

इन शल्य कार्यों में उन्हें कितनी सफलता मिली होगी इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि उन परिस्थितियों में हुए आपरेशन के बाद भी कुछ रोगी जीवित ज़रूर रहे होंगे। खुदाई में ऐसे कई कंकाल मिले हैं, जिनके सिर की हड्डियाँ काटी जाने के बाद फिर से

बढ़ गई थीं। और हड्डी या शरीर के किसी भी ऊतक का बढ़ना तो जीवित अवस्था में ही संभव हो सकता है। क्यों ? ठीक है न !



खुदाई से मिले कपाल



टूटी हुई हड्डी जोड़ने के लिए काम में लाए जाने वाली प्राचीन समय की खपच्चियाँ

टूटी हुई हड्डी को जोड़ने की कला भी शायद बहुत पुरानी है। खुदाई में विशेषज्ञों को ऐसे बहुत से हड्डियों के ढाँचे मिले हैं जिनमें फ्रैक्चर बखूबी जुड़े हुए थे।

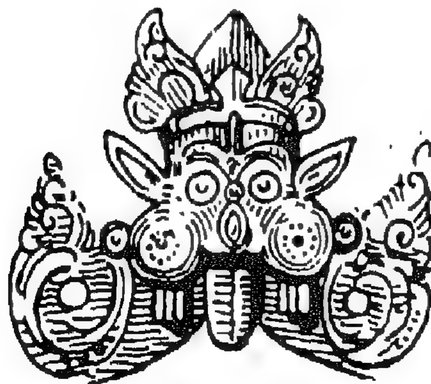
दुनिया में आज भी ऐसे बहुत से कबीले हैं जो आधुनिक सभ्यता से बिलकुल अछूते हैं। इन कबीलों में जब किसी व्यक्ति की हड्डी टूट जाती है तो वे अपने ही तरीकों से उसे जोड़ते हैं। आस्ट्रेलिया के जंगलों में बसे एक कबीले के लोग टूटी हुई हड्डी को जोड़ने के लिए उसके दोनों छोर एक-दूसरे से सटा कर, बाहर से उस पर मुलायम मिट्टी का लेप कर देते हैं। इस लेप को सूखने दिया जाता है जिससे वह आधुनिक प्लास्टर के समान हो

जाता है। बीहड़ जंगलों में बसे दूसरे कुछ कबीले कुछ अन्य तरीके भी अपनाते हैं। टूटी हुई हड्डी के चारों ओर पेड़ की छाल लपेट दी जाती है और उसे ऊपर से घास द्वारा बाँध दिया जाता है। इसी तरह भारत में बाँस की खपच्चियों से भी टूटी हुई हड्डी को सहारा दिया जाता है।

ये प्राचीन तरीके प्रायः हड्डी को जोड़ने में सफल हैं। क्योंकि टूटी हुई हड्डी को जोड़ने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर का वह भाग हिले-डुले नहीं। उसे आराम मिलता रहे।

शायद आदिमानव भी कुछ-कुछ इसी तरह टूटी हुई हड्डी को जोड़ता रहा होगा।

जैसे-जैसे उनकी जानकारी और अधिक बढ़ी, वैसे-वैसे उसके तौर-तरीकों में बदलाव आता गया। इस लंबे सफर में शल्यचिकित्सा का रूप और भी विकसित होता गया।



पिरामिडों के देश में

तपते सूरज और रेतीली मरुभूमि के बीच बसा है मिस्र देश। यहाँ के पिरामिड आज भी वहाँ के बीते सुनहरे कल की दास्तान बखूबी कह रहे हैं।

पोलियो से प्रभावित एक रोगी – चित्रकला का अद्‌भुत नमूना



ये साक्षी हैं उस विकसित सभ्यता की, जो आज से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व यहाँ फली फूली थी।

नील नदी के किनारे विकसित हुई यह सभ्यता करीब ढाई हज़ार साल तक जीवित रही। इसके पद-चिन्हों की छाप आज भी हज़ारों, लाखों सैलानियों को अपनी ओर आकर्षित करती है। पिरामिडों के साथ-साथ उस समय की वास्तुकला और मूर्तिकला के अद्‌भुत नमूनों को देखने हर साल विश्व के कोने-कोने से पर्यटक मिस्र भ्रमण के लिए आते हैं।

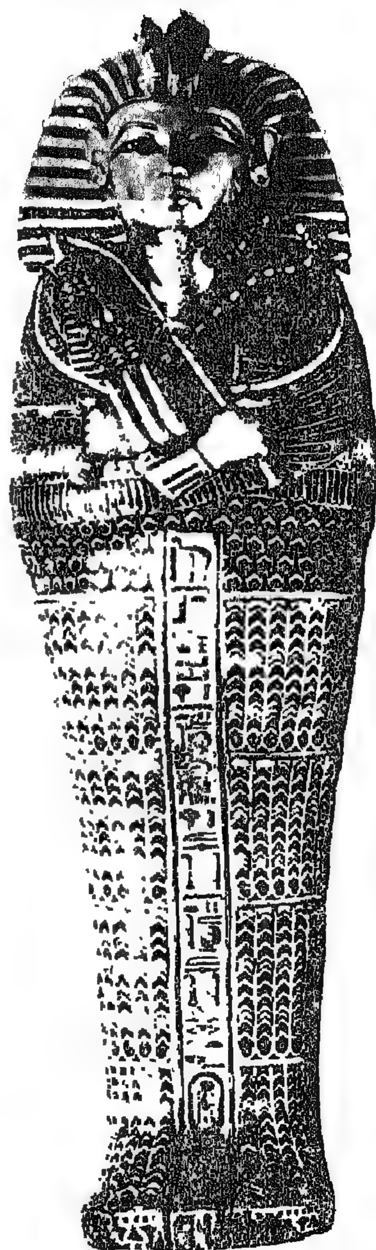


चिकित्सा विज्ञान का पहला सुनहरा पन्ना मिस्र में ही लिखा गया

इस अनुपम सभ्यता ने विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। कागज़ का आविष्कार, गणित में अंकों की दशमलव प्रणाली का विकास एवं चंद्र मासों के आधार पर पंचांग की खोज इसी सभ्यता की देन है।

स्वाभाविक ही था कि यह सभ्यता चिकित्सा विज्ञान को भी अपनी गोद में आश्रय देती।

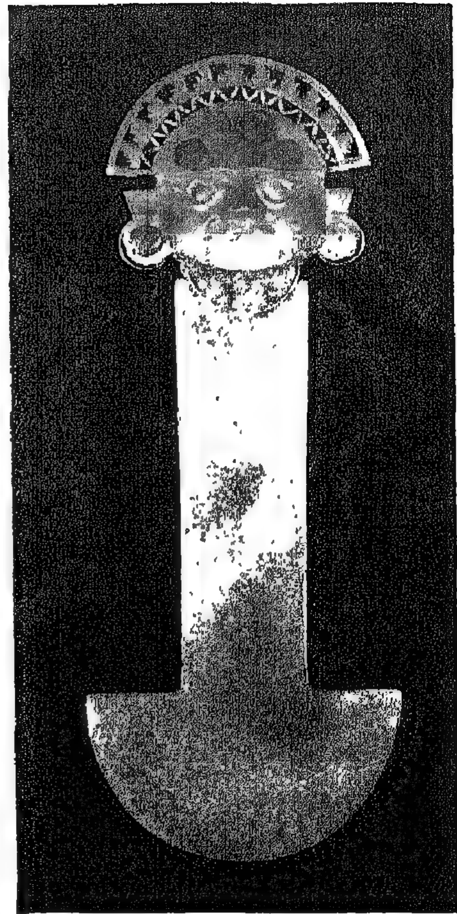
आज हमारे पास ऐसे बहुत से प्रमाण उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीनकालीन मिस्र चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में बहुत आगे पहुँच चुका था। चिकित्सा विज्ञान का पहला सुनहरा पन्ना मिस्र में ही लिखा गया। पेपिरस नामक पेड़ के पत्तों पर सरकंडे की कलम से दस्तावेज़ तैयार किए गए। इन दस्तावेज़ एवं पत्थरों पर मिली शिल्पकारी के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि प्राचीनकालीन



पिरामिडों में मिली एक ममी का बाहरी आवरण

मिस्र के चिकित्सक बहुत से रोगों के बारे में काफी कुछ जानकारी रखते थे। वे बहुत से रोगों के लक्षणों से भली भाँति परिचित थे। नब्ज़ टटोलकर एवं रोगी की विधिवत् जाँच कर ही वे रोग की पहचान किया करते थे।

सर्जरी के क्षेत्र में उन्होंने काफी निपुणता हासिल कर ली थी। एडवीन स्मिथ नामक एक पेपिरस, जो आज भी न्यूयॉर्क शहर के एक संग्रहालय में सुरक्षित है, तरह-तरह की शल्य विधियों के बारे में विस्तृत जानकारी देता है। सन् 1862 में एक अमरीकी पुरात्तवज्ञाता द्वारा लक्सर (मिस्र) के बाज़ार से खरीदे गए इस दस्तावेज़ के अध्ययन से पता चलता है कि मिस्र-वासी टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने, उतरे हुए जोड़ों को ठीक करने, फोड़े के लिए चीरा लगाने, सिर और रीढ़ की हड्डी की चोट का उपचार करने, घावों में टाँका लगाने, दंत चिकित्सा और मोतियाबिंद का आपरेशन करने में माहिर थे। आपरेशन के दौरान अथवा चोट के कारण धमनियों से होने वाले रक्त-स्राव को रोकने के लिए गर्म शल्य औज़ारों का प्रयोग करना वे बखूबी जानते थे। यह तकनीक



पुराने समय का एक शल्य-चाकू

'कॉटरी' के नाम से जानी जाती है और आज भी शल्यचिकित्सक आवश्यकता पड़ने पर इसका प्रयोग करते हैं।

पिरामिडों में सुरक्षित पाए गए शवों (ममीज़) के साथ, उस समय के प्राचीन शल्य औज़ार भी पाए गए हैं। कांस्य से बने तरह-तरह के ये शल्य औज़ार यह बताते हैं कि प्राचीनकालीन मिस्र के चिकित्सक शल्य औज़ारों

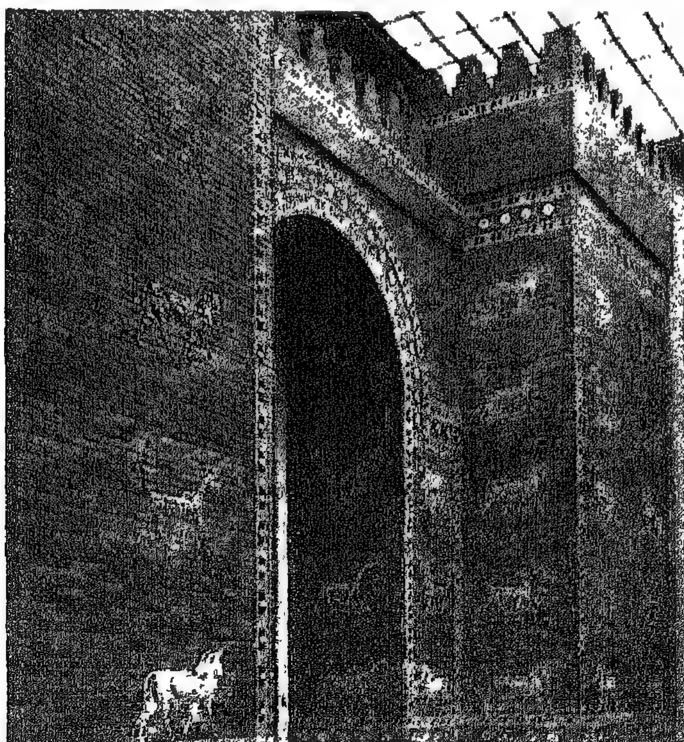


शल्य-औज़ार

का विकास करने में भी अग्रणी थे। इसके अलावा टूटी हुई हड्डी जोड़ने के लिए वे लकड़ी की पतली पट्टियाँ (**स्प्लिंट**), जिनके भीतरी तरफ मुलायम कपड़े की गद्दी लगी रहती थी, का बखूबी उपयोग किया करते थे। घावों में टांका लगाने के लिए उन्होंने धागे भी इज़ाद कर लिए थे।

गीजा के पिरामिडों में पाई गई ममीज़ के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय भी मिस्र में विशेषज्ञ हुआ करते थे। वहाँ प्राप्त शवों में राजघराने के नेत्र-चिकित्सक, दंत-चिकित्सक और उदर संबंधी रोगों के चिकित्सकों के शव शामिल हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सैंकड़ों साल पहले ही मिस्र के चिकित्सकों ने अपने-अपने क्षेत्रों में दक्षता प्राप्त कर ली थी।

बेबीलोनिया, जहाँ बादशाह हामूराबी का राज्य था



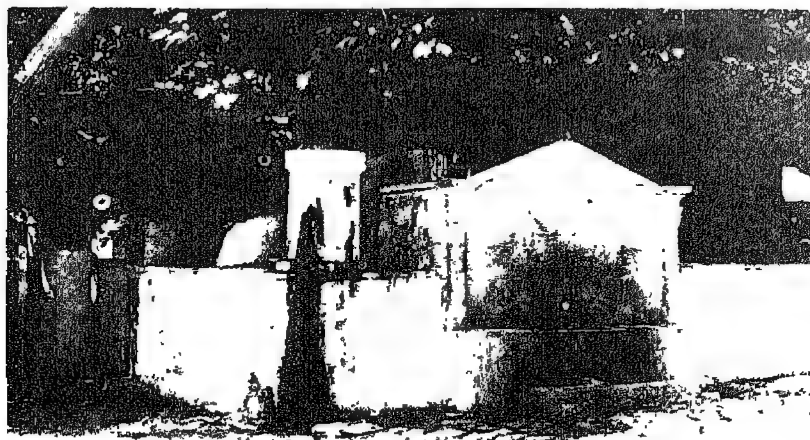
आज जहाँ ईराक देश है वहाँ ईसा से तीन हज़ार साल पहले एक प्राचीन सभ्यता का विकास हुआ था। यह थी बेबीलोनिया की सभ्यता ।

वहाँ के सम्राट हामूराबी का नाम भला कौन नहीं जानता, उसके शासन काल में शल्य चिकित्सा को पूरा-पूरा बढ़ावा मिला।

प्राचीनकालीन मिस्र के समान वहाँ के चिकित्सक भी तरह-तरह के आपरेशन कुशलता के साथ किया करते थे। किन्तु यहाँ की एक खास विशेषता यह थी कि यहाँ पहली बार बादशाह ने सर्जरी से संबंधित कानून भी बनाए। इसमें जहाँ एक ओर चिकित्सक को सम्मान एवं पुरस्कार दिए जाने की व्यवस्था थी, वहीं दूसरी ओर अक्षम चिकित्सकों को दण्डित भी किया जाता था।

शल्य चिकित्सा की लंबी कहानी का अगला महत्त्वपूर्ण पड़ाव है प्राचीन यूनान साम्राज्य का एक छोटा-सा द्वीप—कॉस। यह आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के जनक हिपोक्रेटीज़ की जन्मभूमि है। ईसा से 460 वर्ष पूर्व पैदा हुए इस महान चिकित्सक ने चिकित्सा विज्ञान को वैज्ञानिक आधार दिया,

कॉस द्वीप, हिपोक्रेटीज़ यहीं अपने शिष्यों को चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा दिया करते थे





हिपोक्रेटीज़—आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के जनक

साथ ही उसे मानवतावादी बनाया। आज भी चिकित्सक बनने पर मानव हित के लिए कार्य करने की जो प्रतिज्ञा दिलाई जाती है उसकी मूल रचना इस महान चिकित्सा वैज्ञानिक ने ही की थी।

रोगों को अंधविश्वास और जादू-टोने की परिधि से निकाल कर हिपोक्रेटीज़ ने सर्वप्रथम यह सिद्धांत प्रस्तुत किया कि प्रत्येक रोग का कोई न कोई मूल कारण होता है। उसे जानने के बाद ही रोग का उचित उपचार संभव है।

हिपोक्रेटीज़ ने बहुत से रोगों के बारे में बारीकी से अध्ययन किया। रोगों की किस तरह जाँच करनी चाहिए, आपरेशन के समय प्रकाश व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, चिकित्सक को रोगी की जाँच और आपरेशन करते समय क्या-क्या सावधानियाँ बरतनी चाहिए, जैसी छोटी किन्तु अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण बातों के बारे में भी उन्होंने अपनी किताबों में पहली बार लिखा।

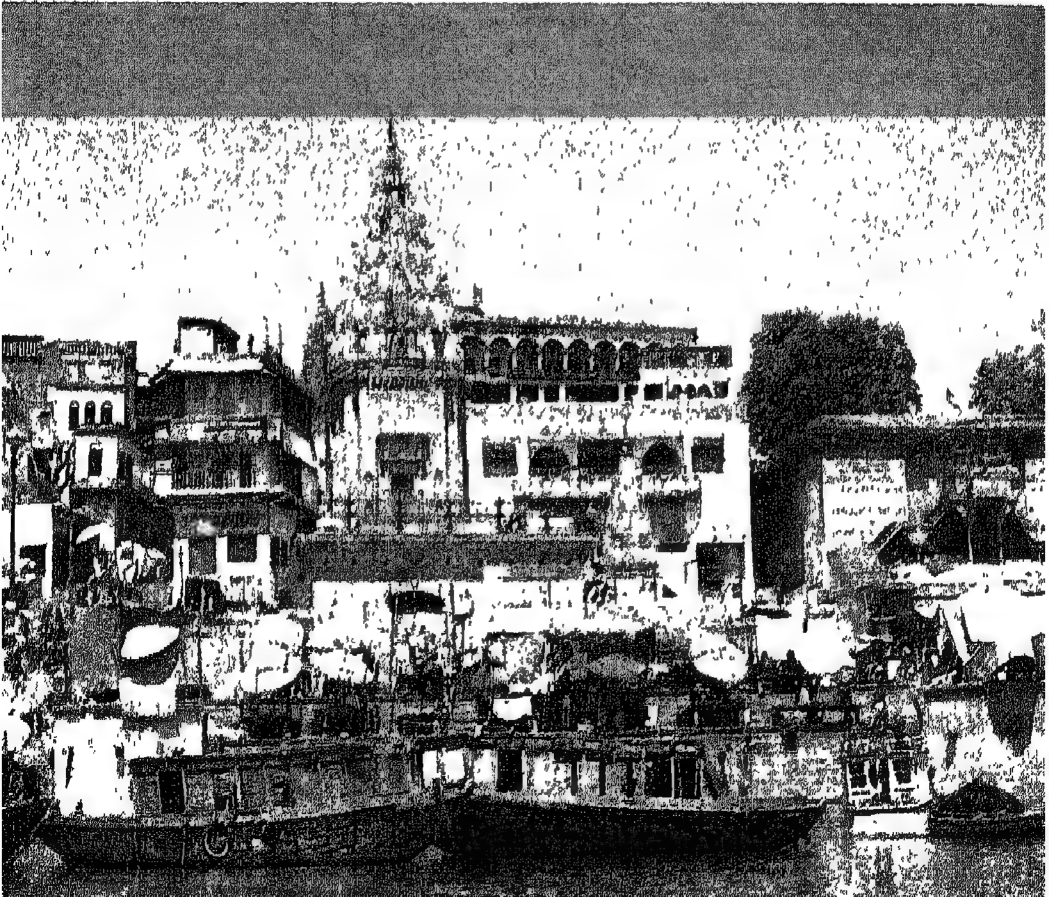
उनकी निरीक्षण शक्ति सचमुच ही असाधारण थी। किस रोग में रोगी कैसा दिखाई देगा, इसकी विस्तृत जानकारी उन्होंने अपनी किताबों में दी है। यह जानकारी समय की कसौटी पर पूरी तरह खरी उतरी है।

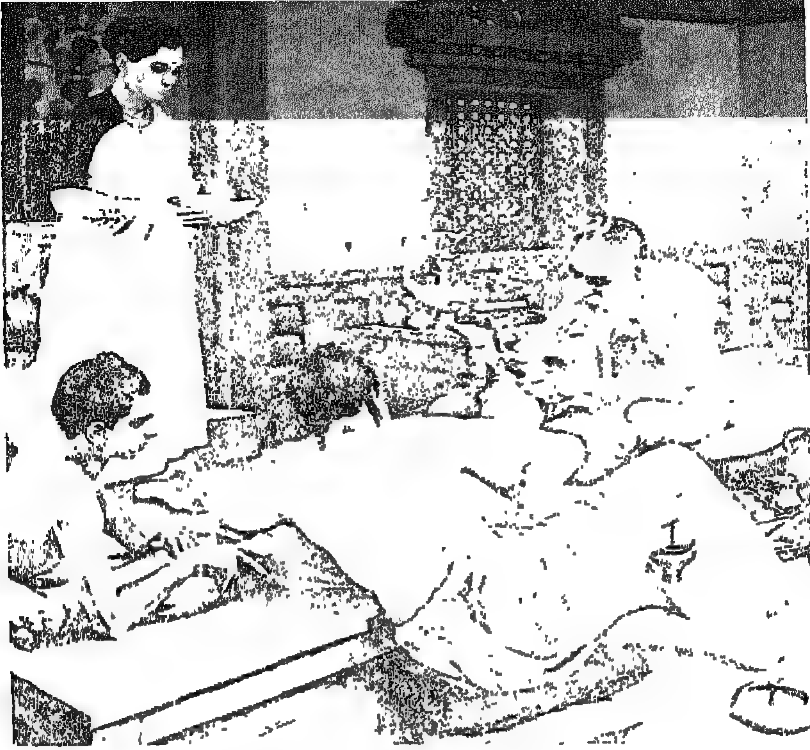
हिपोक्रेटीज़ ने बहुत-सी नई शल्य तकनीकों का विकास किया। इनमें उल्लेखनीय है-छाती में फेफड़ों को घेरने वाली झिल्लियों के बीच इकट्ठे हुए मवाद (**इम्पाएमा**) का आपरेशन, बवासीर का आपरेशन और उतरे हुए कूल्हे एवं कंधों के जोड़ों को पुनः सामान्य बनाने की विधियाँ।



गंगा के किनारे

भारत की एक बहुत प्राचीन नगरी है वाराणसी। गंगा की निर्मल धारा सहस्त्रों वर्षों से इसके आँचल में मचल-मचल कर बहती रही है। इस नगरी का अपना सैंकड़ों वर्ष पुराना वैभवशाली इतिहास है। हमेशा से यह नगरी





सुश्रुत शल्यचिकित्सा करते हुए

शिक्षा का एक बड़ा केन्द्र रही है।

प्राचीन काल में वाराणसी, काशी के नाम से जानी जाती थी। आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पहले की बात है। गंगा तट से थोड़ी दूर एक पाठशाला थी। वहाँ जीवनदान देने वाली कला की शिक्षा दी जाती थी। दूर-दूर से विद्यार्थी यहाँ आते और शल्यचिकित्सा का ज्ञान प्राप्त करते। धन-दौलत से दाखिला न मिलता था यहाँ! इस पवित्र मंदिर के द्वार केवल उनके लिए खुले थे, जिनका मन मानव-सेवा और प्रेम से ओतप्रोत होता था, जिनमें साधना और कठोर परिश्रम करने की लगन होती थी।

इस पाठशाला को चलाते थे महर्षि सुश्रुत। शल्यचिकित्सक के रूप में उनका यश चारों दिशाओं में दूर-दूर तक फैला हुआ था। वे स्वयं काशी के राजा दिवोदास के शिष्य थे। दिवोदास को भगवान धनवंतरि का अवतार कहा गया है।

सुश्रुत के प्रारंभिक जीवन के बारे में आज कोई निश्चित जानकारी नहीं मिलती। बस, इतना ही कहा जा सकता है कि उनके पिता का नाम विश्वामित्र था और उनका बाल्यकाल गंगा की पावन लहरों से खेलते हुए बीता था। बड़े होने पर उन्होंने काशी के राजा, महान चिकित्साशास्त्री दिवोदास की देख–रेख में चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की और वे अपने समय के अद्वितीय शल्यचिकित्सक हुए। अपने जीवन-काल में उन्होंने बहुत-सी नई शल्य तकनीकें विकसित कीं, जो आगे चलकर बहुत से शल्यचिकित्सकों के लिए प्रेरणा का स्रोत बनीं। उनके द्वारा रचित चिकित्सा ग्रंथ **'सुश्रुत-संहिता'** एक महान ग्रंथ है। यह ग्रंथ इस तथ्य का जीवंत प्रमाण है कि प्राचीन भारत के चिकित्सक, चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में अपने समय से बहुत आगे पहुँच चुके थे।

सुश्रुत-संहिता से शल्यचिकित्सा की विशद जानकारी मिलती है। इसमें कुल मिलाकर 120 अध्याय हैं और इन्हें छह भागों में बाँटा गया है – सूत्रस्थान, निदानस्थान, शरीरस्थान, चिकित्सास्थान, कल्पस्थान और उत्तरस्थान।

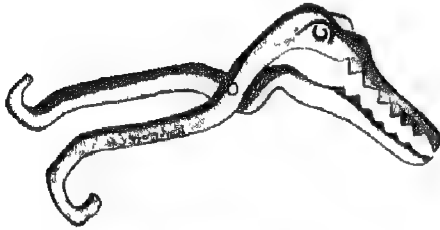
इस ग्रंथ में शल्यचिकित्सा की विधियों और उसमें काम आने वाले यंत्रों तथा शस्त्रों के बारे में व्यापक जानकारी दी गई है। शरीर के किसी भाग में मवाद पड़ जाने पर चीरा लगाना आवश्यक होता है, यह महत्त्वपूर्ण तथ्य सुश्रुत से छिपा न था। उन्होंने इस बारे में स्पष्ट जानकारी दी है कि इस स्थिति से चीरा कैसे और कहाँ लगाएँ। इसी तरह जब शरीर के कुछ अंग जलवृद्धि के कारण फूल जाएँ तो उनका जल सुई द्वारा कैसे खींच लेना चाहिए, यह विधि भी उपयुक्त रूप से बताई गई है। मूत्राशय की पथरी, भगंदर और बवासीर के आपरेशन एवं मोतियाबिंद की शल्य क्रिया के साथ-साथ, ज़रूरत पड़ने पर माँ के गर्भ से चीरा लगाकर शिशु को जन्म देने की शल्य क्रिया और दंतचिकित्सा तथा अस्थिचिकित्सा की बारीकियों

का बेमिसाल वर्णन भी सुश्रुत संहिता में मिलता है। इसके अलावा काया श्रृंगार (प्लास्टिक सर्जरी) से जुड़े तरह-तरह के आपरेशन भी विस्तार से वर्णित हैं।

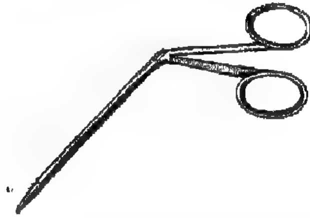
शल्य यंत्रों की संख्या 101 बताई गई है। इन यंत्रों को हिंस्र पशु तथा पक्षियों के मुँह के आकार के अनुसार नाम दिए गए हैं। जैसे सिंहमुख (शेर

तरह-तरह के प्राचीन शल्य यंत्र

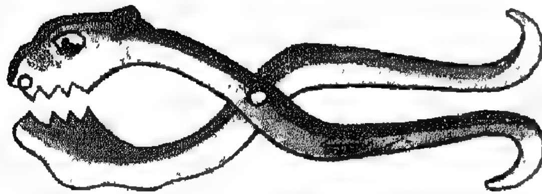
मक्रमुख यंत्र



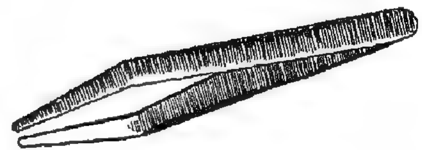
कान के आपरेशन का एक यंत्र



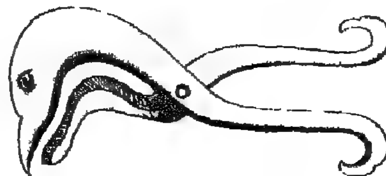
सिंहमुख यंत्र



एक साधारण चिमटी



गृध्रमुख यंत्र



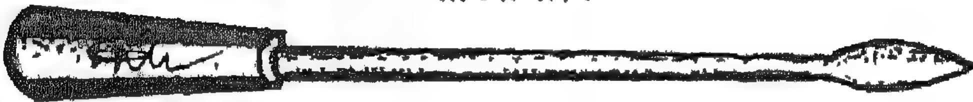
के मुख जैसा), गृध्रमुख (गिद्ध के मुँह जैसा), मक्रमुख (मगरमच्छ के मुँह जैसा) आदि। ये यंत्र आधुनिक शल्य यंत्रों से किसी भी तरह कम न थे।

तरह तरह के शल्य शस्त्र

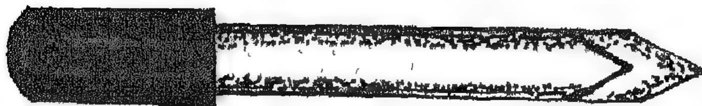
मोतियाबिंद के आपरेशन में काम आने वाला शस्त्र



वाडिश शस्त्र



मुद्रिका शस्त्र



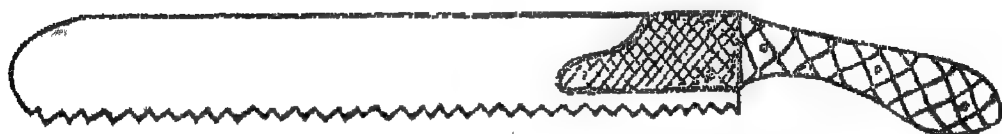
शल्य चाकू



इनके साथ ही 20 शल्य शस्त्र भी वर्णित हैं। इनके नाम हैं – मंडलाग्र, करपत्र, मुद्रिका, बृहिमुख आदि। ये शल्य औज़ार प्रायः लौह धातु या चाँदी से बनाए जाते थे। इन्हें इस ढंग से बनाया जाता था कि इनकी धार कभी कमज़ोर न पड़ती थी और इनमें कभी जंग न लगती थी। उन्हें रखने के लिए ख़ासतौर से लकड़ी के डिब्बे भी तैयार किए गए थे।

टाँके लगाने के लिए त्वचा और विभिन्न ऊतकों की मोटाई व रचना को ध्यान में रखते हुए तरह-तरह के धागे भी विकसित किए गए थे। कुछ

करपत्र शस्त्र



वृहिमुख शस्त्र



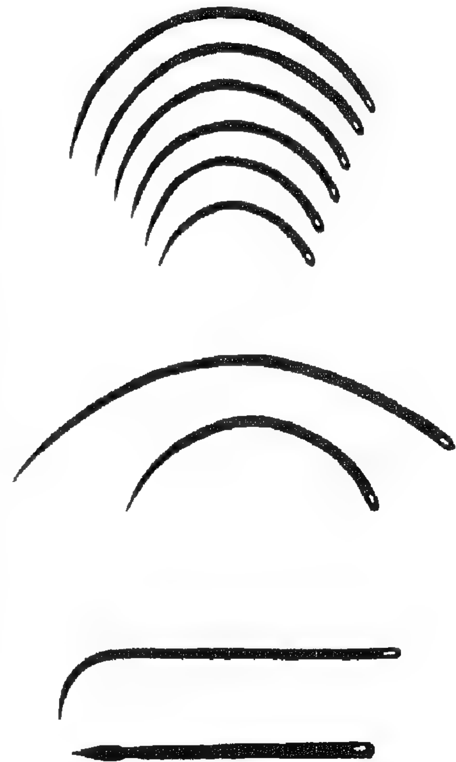
अर्धपत्र शस्त्र



का आधार रेशम की डोर होती, तो कुछ सूत से बनाए जाते थे। कुछ चमड़े से तैयार किए जाते थे तो कुछ घोड़ों के बालों से। इसी प्रकार कई किस्म की सूइयाँ भी उपयोग में लाई जाती थीं- कुछ मोटी, कुछ पतली, कुछ अधिक घुमाव लिए हुए, तो कुछ कम और कुछ बिलकुल सीधी।

दुर्घटनाओं में अथवा अस्त्र-शस्त्र के वार से फट गई आँतों के दो किनारों को एक-दूसरे से जोड़ने के लिए सुश्रुत ने एक विलक्षण तकनीक खोज निक़ाली थी। इसके लिए वे एक किस्म के चींटों का उपयोग किया करते थे। फटी हुई आँत के दो किनारों को साथ मिलाकर उस पर चींटें छोड़ दिए जाते। वे चींटे अपने दाँतों से उस पर चिपक जाते, जिससे फटी हुई आँत के दो किनारे आपस में सिल-से जाते। अब चींटों का शेष भाग काट कर अलग कर दिया जाता और उदर के बाहरी ऊतकों और त्वचा पर टाँके कस दिए जाते। कुछ ही दिनों में आँत का घाव भर जाता। साथ ही चींटों का सिर भी ऊतकों में अपने आप घुल-मिल जाता था। आजकल शल्यचिकित्सक शरीर के भीतरी अंगों के टाँके लगाने के लिए भेड़ की आँत से बनाए गए धागों का उपयोग करते हैं। उद्देश्य यह रहता है कि टाँके भीतर

तरह-तरह की सूइयाँ

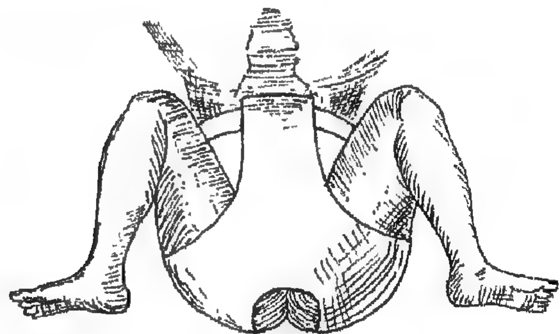


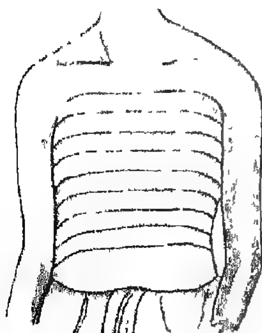
ही भीतर घुल जाएँ जिससे टाँके निकालने के लिए कम-से-कम शरीर का वह भाग दुबारा न खोलना पड़े।

सुश्रुत-संहिता में शल्यचिकित्सा के लगभग हर महत्त्वपूर्ण पहलू पर विस्तृत जानकारी दी गई है जैसे, आपरेशन के बाद क्या-क्या सावधानियाँ बरतनी चाहिए, रोगी का आहार कैसा होना चाहिए, घाव भर जाए इसके लिए कौन-कौन-सी औषधियाँ देनी चाहिए आदि। उन दिनों तरह-तरह की रूई, रेशम और मलमल से बनी पट्टियों का भी प्रचलन था।

तरह-तरह की पट्टियाँ









प्राचीन भारत के चिकित्सक औषधि-विज्ञान के बारे में भी व्यापक जानकारी रखते थे। उन्होंने बहुत सी जड़ी-बूटियों की खोज की। साथ ही रसायन भी खोज निकाले। ये रोगी का दुख-दर्द दूर करने में काम आते थे।

शल्य क्रिया के दौरान रोगी को कष्ट न हो, इसके लिए कुछ ऐसी सक्षम जड़ी-बूटियाँ भी खोज निकाली गई थीं जिनके देने से रोगी गहरी नींद में सो जाता था।

सुश्रुत जितने बड़े शल्यचिकित्सक थे, उतने ही श्रेष्ठ गुरु भी थे। शल्य प्रयास किए। मानव शरीर के भीतरी अंगों की जानकारी प्राप्त करने के लिए उन्होंने एक अनूठी विधि खोज निकाली थी। मृत शरीर को पहले किसी वज़नदार वस्तु के साथ बाँधकर किसी छोटी-सी नहर में डाल दिया जाता था। एक सप्ताह बाद जब बाहरी त्वचा और ऊतक फूल जाते, तब झाड़ियों और लताओं से बने बड़े-बड़े ब्रुशों द्वारा उन्हें शरीर से अलग कर दिया जाता था। इससे शरीर के आंतरिक अंगों की रचना स्पष्ट हो जाती थी।

सुश्रुत जितने बड़े शल्यचिकित्सक थे, उतने ही श्रेष्ठ गुरु भी थे। शल्य कला का प्रारंभिक प्रशिक्षण देने के लिए वे अपने शिष्यों को कंद-मूल, फल-फूल, पेड़-पौधों की लताओं, पानी से भरी मशकों, चिकनी मिट्टी के ढाँचों और मलमल से बने मानवपुतलों पर दिनोंदिन अभ्यास करवाते। चीरा कैसे लगाना है, उसे कितना लंबा, कितना गहरा रखना है – इसका अभ्यास प्राप्त करने के लिए शिष्यों को ककड़ी, करेला, तरबूज जैसे फलों और सब्जियों पर कई-कई दिनों तक अभ्यास करना पड़ता था। किसी घाव की गहराई कैसे पहचानें और उसे भरने के लिए क्या-क्या तकनीकें अपनाएँ– इसका प्रशिक्षण दीमक खाई लकड़ी के द्वारा दिया जाता, जिससे कि शिक्षार्थी रूग्ण शरीर की स्थिति का सही अंदाज़ा लगा सकें। अभ्यास के दौरान कमल के फूल की डंडी, शिरा (रक्त वाहिनी) बन जाती,



शिष्यों को कंद-मूल, शाक-सब्जी पर प्रशिक्षण दिया जाता था

जिसे शिष्य को सूई द्वारा बेधना पड़ता था। इसी तरह टांके लगाने का प्रशिक्षण तरह-तरह के कपड़ों और चमड़े पर दिया जाता। खुरदरा चमड़ा, जिस पर से बाल न हटाए गए हों, उस पर खुरचने की कला सिखाई जाती थी। पट्टी बाँधने का ज्ञान देने के लिए मानव पुतलों का सहारा लिया जाता था।



प्राचीनकालीन भारत में दंतचिकित्सा

इस प्रशिक्षण में उत्तीर्ण होने के बाद ही शिष्य के प्रशिक्षण का दूसरा चरण शुरू होता। अब उसे किसी कुशल शल्यचिकित्सक की देखरेख में रख दिया जाता था। वह तरह-तरह की शल्य क्रियाएँ देखता और उनसे सीखता जाता। फिर कुछ समय बाद जब वह पूरी तरह परिपक्व हो जाता, तब उसे गुरु की देखरेख में स्वयं आपरेशन करने की अनुमति दी जाती थी। इस तरह पूर्ण प्रशिक्षण और अनुभव पाकर ही वह पाठशाला से बाहर निकलता था।

सुश्रुत पूर्ण रूप से शल्यचिकित्सक थे। किंतु उन्होंने क्षय रोग, कुष्ठ रोग, मधुमेह, हृदय रोग, '**एनजाइना**' एवं विटामिन सी की कमी से होने वाले रोग "**स्कर्वी**" के बारे में भी महत्त्वपूर्ण जानकारी दी।

ईसा से 600 वर्ष पूर्व और सन् 1000 ई० तक का समय भारतीय चिकित्सा विज्ञान के लिए एक स्वर्णिम युग था। अत्रेय, जीवक, चरक और बाणभट्ट जैसे बहुत से यशस्वी चिकित्साशास्त्रियों ने भारत की पावन भूमि पर जन्म लिया। काशी के साथ-साथ नालंदा और तक्षशिला के प्राचीन विश्वविद्यालय भी सैंकड़ों वर्षों तक विश्वविख्यात रहे। यहाँ दूर-दूर से शिक्षार्थी आते और चिकित्सा विज्ञान में निपुण होकर मानव कल्याण की प्रतिज्ञा लेते। चिकित्सा विज्ञान के कुछ इतिहासकारों का तो यह भी कहना है कि यूनानी चिकित्सा पद्धति के बहुत से सिद्धांत प्राचीन भारतीय चिकित्सकों के विचारों पर ही आधारित हैं।



शव की चोरी

अंधेरा गहरा हो चला था। दूर-दूर तक सन्नाटा छाया हुआ था। चंद्रमा के धीमे प्रकाश में दो मानव आकृतियाँ दिखाई दीं। उन आकृतियों के कदम नगर के कब्रिस्तान की ओर बढ़ रहे थे।

कब्रिस्तान के दरवाज़े बंद थे। चारों तरफ ऊँची दीवारें थीं। उन दोनों ने दीवार फाँदी और दबे पाँव भीतर दाखिल हो गए।

कब्रिस्तान की गहरी काली परछाइयों में छिपते-छिपाते वे दोनों उस किनारे पर पहुँच गए, जहाँ उसी दिन एक लावारिस लाश दफ़नाई गई थी। उनके पास एक बड़ा बोरा था। उसमें से दोनों ने कुदाल निकाली और कब्र को खोदने लगे। कुछ ही देर में ज़मीन में दबा ताबूत बाहर दीखने लगा। उसके ऊपर की ताज़ी, मुलायम मिट्टी को हटा कर दोनों ने ताबूत का ढक्कन ऊपर उठाया। शव को बाहर निकाला और उसे बोरे में बंद कर लिया। खाली ताबूत को वापस वहीं दफ़नाया, अपने औज़ार समेटे और उसी रास्ते चुपचाप वापस हो गए।

रात के अंधेरे में अपनी जान पर खेल कर उस लावारिस लाश को ले जाने वाले वे व्यक्ति कौन थे? क्या था उनका मक़सद?

कोई देख लेता तो शायद उसे एक बार तो अपनी आँखों पर विश्वास ही नहीं होता। एंड्रियस विसेलियस चिकित्सक! जिन्होंने कितने ही बीमार

लोगों की चिकित्सा, सेवा-सुश्रूषा की है, नई ज़िंदगी दी है, ऐसा काम करेंगें, भला क्यों? किसी को कौन समझा पाता कि शव की यह चोरी भी



एंड्रियस विसेलियस रात के अँधेरे में अकेले ही शवच्छेदन करते हुए

एंड्रियस और उसके साथी ने मानव-हित की भावना से ही प्रेरित होकर की थी। शव को खोलकर उसका अध्ययन करना उनके लिए अत्यंत आवश्यक था। तभी वे मानव शरीर की रचना के बारे में बारीकी से जान सकते थे।

सन् 1514 की आखिरी रात, वर्तमान बेल्जियम देश के ब्रुसेल्ज़ शहर में पैदा हुए एंड्रियस को चिकित्सा विज्ञान विरासत में मिली थी। उनके पिता आस्ट्रिया की महारानी मार्ग्रेट के निजी चिकित्सक थे। उनके पितामह भी अपने समय के जाने-माने चिकित्सकों में से एक थे। नन्हें एंड्रियस पर घर के वातावरण का प्रभाव रंग लाया। लोबेन विश्वविद्यालय में लेटिन, ग्रीक, हिब्रू और अरबी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के बाद चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन करने के लिए वे पेरिस के सुविख्यात मेडिकल स्कूल में दाखिल हुए।

चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा की शुरुआत देह-रचना (**एनेटमी**)और देह-क्रिया (**फिज़िआलॉजी**)विषयों से होती है।

एंड्रियस जब मेडिकल स्कूल में भर्ती हुए उस समय देह-रचना का ज्ञान, दूसरी शताब्दी में हुए सुविख्यात चिकित्सक गैलन द्वारा लिखी गई पुस्तकों पर आधारित था। इस क्षेत्र में गैलन को पंडित माना जाता था। उसका ग्रंथ सर्वमान्य था। उससे बढ़कर न कोई हुआ था, न हो सकता था।

लेकिन गैलन, उसने तो पशुओं की चीर-फाड़ करके ही देह-रचना की



गैलन



प्राध्यापक, गैलन का लिखा पढ़ता जाता और एक बेचारा हज्जाम शवच्छेदन करता जाता

जानकारी एकत्र की थी। उसके समय में मृत मानव देह का **डिसेक्शन** (शवच्छेदन) करना वर्जित था।

अब जन्तुओं और मानव के शरीर की रचना तो एक-सी नहीं हो सकती। किंतु मध्य युग के संकीर्ण विचारधारा वाले चिकित्सकों को भला यह कौन समझाता ?

चर्च ने अब मेडिकल स्कूलों में मृत देह का डिसेक्शन करने की अनुमति दे दी थी। किंतु अब भी प्राध्यापक आँखें मूँदे गैलन की पुस्तक का एक-एक अक्षर ज्यों-का-त्यों पढ़ा रहे थे। मृत देह की चीर-फाड़ करना उन्होंने अपनी गरिमा के अनुकूल न समझा। इसके लिए ऐसे हज्जामों को नौकरी पर रख लिया जाता था, जो छोटी-मोटी शल्य क्रियाऐं करना जानते थे। कक्षा में प्राध्यापक गैलन की किताब से एक-एक अक्षर सुनाता जाता और बेचारा हज्जाम शव पर चाकू चलाता जाता।

कुछ लोगों ने यह महसूस किया कि डिसेक्शन करने पर मानव देह की जो आंतरिक रचना सामने आती है, उसमें और गैलन के लिखे में बड़ा भारी अंतर है। किंतु गैलन पर उनका इतना अधिक विश्वास था कि वे ऐसा सोच ही नहीं पाते थे कि **'द ग्रेट मास्टर'** – गैलन का लिखा गलत हो सकता है। यहाँ तक कि कुछ तो कहते थे – 'हो सकता है बीच की बारह-तेरह शताब्दियों में मानव देह की रचना में परिवर्तन आ गया हो।'

यह नहीं कि सभी एक से थे – परंपरा से जकड़े हुए, नए विचारों से कोसों दूर। समय-समय पर कुछ चिंगारियाँ फूटीं भी।

महान अरबी चिकित्सक – अल राजी, इब्नसिना और अली अब्बास ने मृत मानव देह की चीर-फाड़ की और गैलन की गलतियों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने अपने विचार भी व्यक्त किए। किंतु उनके द्वारा किया गया कार्य अधूरा रह गया। जितनी नई जानकारी उन्होंने दी, वह दब कर रह गई। गैलन का लिखा तब भी पूर्ण सच बना रहा।

पंद्रहवीं सदी में जब मध्य युग का अँधेरा छँट रहा था, वैज्ञानिक सोच का अंकुर फूट रहा था, तब एक बार फिर आवाज़ उठी। यह आवाज़ किसी चिकित्सक की न थी। इसे उठाने वाले कुछ चित्रकार थे, मूर्तिकार थे। इनमें प्रमुख था – लियोनार्दो द विन्ची। रेनैसां काल के इस महान कलाकार ने बहुमुखी प्रतिभा पाई थी। उसका वैज्ञानिक मस्तिष्क हमेशा सच की खोज में



मानव देह रचना को समझने की चेष्टा

लगा रहता। केनवस पर मानव आकृति को साक्षात् उतारने के लिए उसने मानव देह को नज़दीक से जानना ज़रूरी समझा। उसने मृत मानव देह की चीर-फाड़ भी की, जिससे मानव शरीर का एक-एक भाग, एक-एक अंग, एक-एक मांसपेशी की बनावट उसके समक्ष स्पष्ट हो जाए। उसने मनुष्य शरीर के सात सौ से भी अधिक चित्र तैयार किए। किंतु चिकित्सा विज्ञान का यह दुर्भाग्य था कि विंची चिकित्सक न था। उसके बनाए गए चित्र दो शताब्दियों तक ऐसे ही पड़े रह गए। गैलन का लिखा अब भी पत्थर की लकीर ही रहा।

ऐसे ही समय में, उन्नीस वर्षीय एंड्रियस ने पेरिस के मेडिकल स्कूल में दाखिला लिया। एंड्रियस ने वैज्ञानिक मस्तिष्क पाया था। उनकी नज़र से यह बात छिपी न रही कि उनके प्रोफेसर कक्षा में जो पढ़ाते थे, मानव शरीर की वास्तविक रचना उससे भिन्न थी। लेकिन अध्यापक इस ओर ज़रा भी ध्यान न देते। एंड्रियस के अधिकतर सहपाठी भी अपने अध्यापक के पाठ को आँखें बंद कर, हूबहू याद कर लेते।

एंड्रियस का अंतर्मन इन विपरीत परिस्थितियों को स्वीकार न कर पाता। वे अपने प्रोफेसरों से प्रायः कुछ न कहते। किंतु हर शाम अपने कमरे में लौटने के बाद वे एक काम करते। आपस में मेल न खाने वाले इन तथ्यों के बारे में वे अपनी डायरी में लिख लेते। वे इस फिराक़ में भी रहते कि कब उन्हें मौका मिले और वे खुद डिसेक्शन करके देखें कि सच्चाई क्या है। कक्षा में जब कभी अवसर मिलता तो वे खुशी से आगे हो जाते। फिर उन्होंने और उनके कुछ मित्रों ने एक और तरीका भी खोज निकाला। मृत्यु दंड के बाद शहर की सीमा के बाहर डाले गए अपराधियों के शव वे चोरी-छिपे उठा लाते और समय मिलने पर उनका डिसेक्शन करते।

पेरिस में पढ़ाई पूरी कर एंड्रियस लोबेन विश्वविद्यालय में वापस लौट आए। वहाँ भी उन्होंने अपना अधूरा कार्य जारी रखा। जब वे तेईस वर्ष के

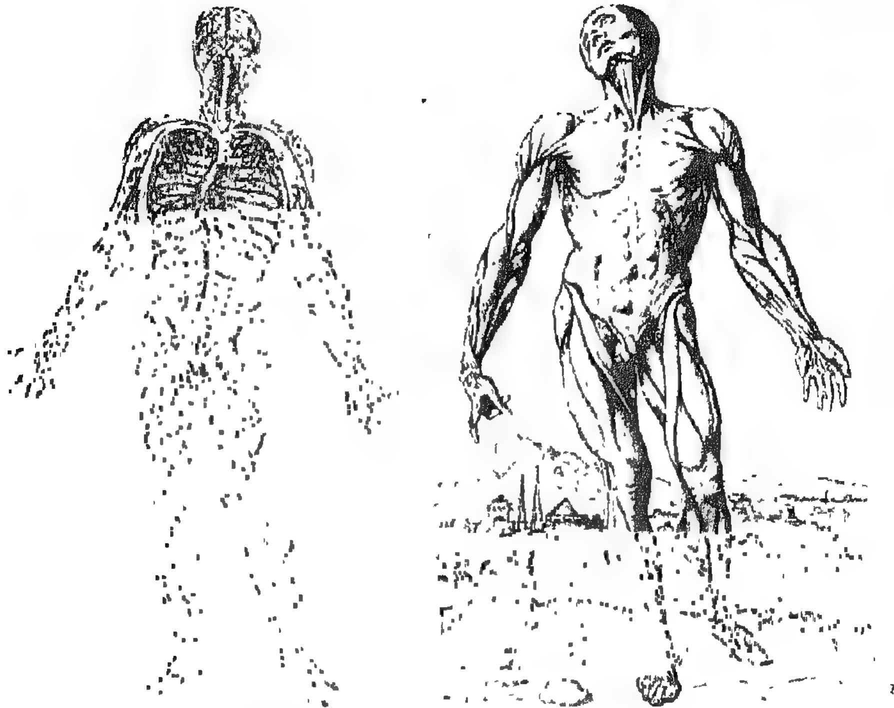
ही थे, उन्हें इटली के मशहूर पदुआ मेडिकल स्कूल में शरीर-विज्ञान का प्रोफेसर बनने का गौरव प्राप्त हुआ। वे अब भी दिन-रात कड़ी मेहनत करते रहे। उन्हें दिनभर 'डिसेक्शन हाल' में देखा जा सकता था। उन्होंने डिसेक्शन करने के लिए नए औज़ार भी विकसित किए। मानव शरीर की रचना के रहस्य धीरे-धीरे उनके सामने स्पष्ट होते चले गए। उन्हें अचरज होता कि गैलन की पुस्तकों में कितनी बड़ी बड़ी त्रुटियाँ थीं, लेकिन किसी ने उन्हें सुधारने का प्रयास नहीं किया था।

वे अपने शिष्यों को पढ़ाने में भी पूरी रुचि लेते। वे उन्हें प्रेरित करते कि वे खुद डिसेक्शन करें और देखें कि मानव शरीर की संरचना वास्तव में है कैसी?

एंड्रियस ने शरीर की प्रत्येक हड्डी और मांस-पेशी का सूक्षमता से अध्ययन किया। उन्होंने जाना कि रक्त कणों को बनाने वाली फैक्ट्रियाँ (मज्जा), हड्डियों में ही पाई जाती हैं। मांस-पेशियाँ हड्डियों से कहाँ कैसे जुड़ी रहती हैं, यह जानकारी भी उन्होंने प्राप्त की। शरीर में एक जगह से दूसरी जगह रक्त ले जाने वाली रक्त-धमनियों और एक स्थान से दूसरे स्थान पर संदेश ले जाने वाली तंत्रिकाओं के जाल की एक-एक कड़ी को उन्होंने पहचानने की कोशिश की। धक-धक करता दिल, फेफड़े और पेट में पाए जाने वाले अंगों की रचना के बारे में भी उन्होंने खोजबीन की।

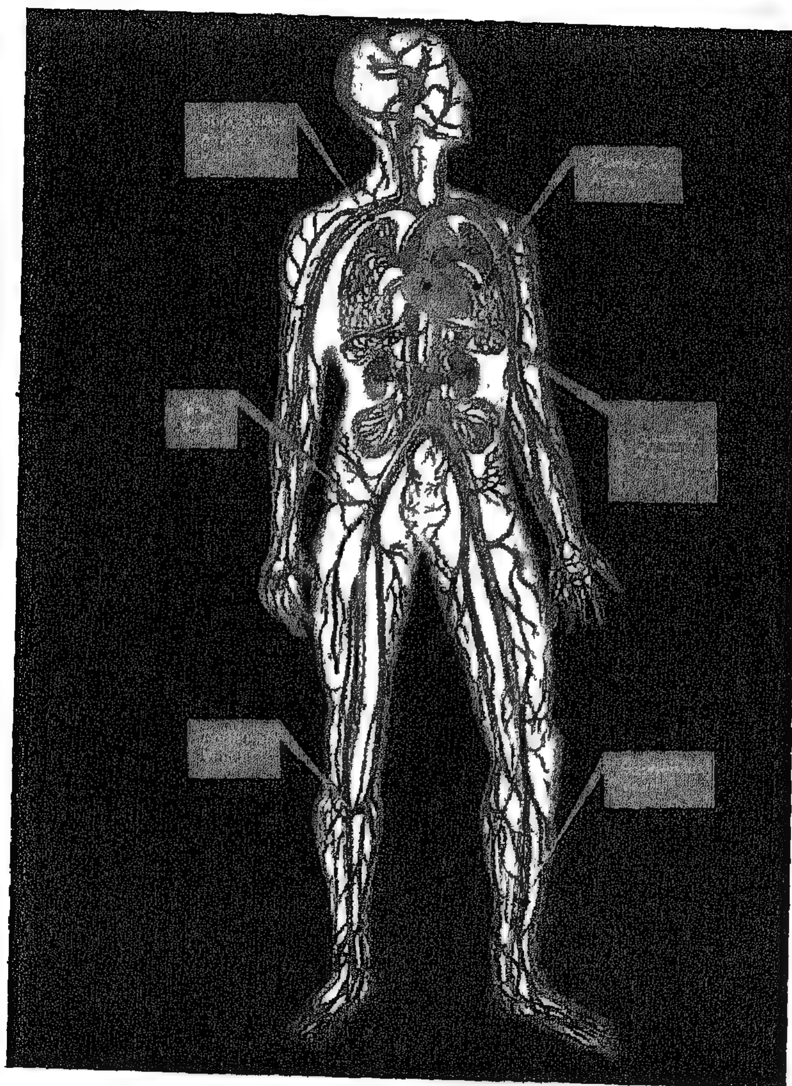
अपने इन अनुभवों को वे साथ-साथ लिखते भी रहे। उन्होंने अपने एक चित्रकार मित्र, जॉन वॉल कालकर से शरीर के विभिन्न अंगों के चित्र तैयार करवाए। फिर इन सबको एकत्र कर उन्हें एक पुस्तक का रूप भी उन्होंने दिया। यह पुस्तक सात खंडों में बंटी थी। प्रत्येक खंड शरीर की किसी विशेष प्रणाली पर प्रकाश डालता था। यह पुस्तक आज की एनेटमी पुस्तकों से क़िसी भी तरह कम न थी।

सन् 1543 में यह पुस्तक छप कर तैयार हो गई। पुस्तक के छपते ही



एंड्रियस की पुस्तक से दो रेखाचित्र

चारों ओर तहलका मच गया। वैज्ञानिक सोच वाले चिकित्सकों ने इसका हृदय से स्वागत किया। किन्तु ऐसे व्यक्तियों की गिनती कम ही थी। साम्राज्य तो गैलन-पंथियों के ही हाथों में था। उनसे सच निगला न गया। अपने टूटते-बिखरते साम्राज्य को संभालने के लिए उन्होंने एंड्रियस की भर्त्सना की। उनके पुराने गुरू सिलवियस ने तो यहाँ तक कह दिया कि एंड्रियस पगला गया है।



एनेटमी के ज्ञान से शल्यचिकित्सा को वैज्ञानिक आधार मिला। यहाँ रक्त-वाहिकाओं का चित्रण किया गया है

एंड्रियस कुछ समय तक इस प्रतिवाद के विरुद्ध लड़ते रहे। उन्होंने बहुत से विश्वविद्यालयों में जाकर वैज्ञानिक स्पष्टीकरण देने का प्रयत्न भी किया। किंतु गैलन के विचारों में वे लोग इस हद तक बंदी थे कि सच को पहचानना न चाहते थे।

अंत में एंड्रियस के धैर्य का बाँध टूट गया। निराश होकर उन्होंने पदुआ मेडिकल स्कूल से इस्तीफा दे दिया और स्पेन के महाराजा के निजी चिकित्सक हो गए। लगभग इक्कीस वर्ष तक वे राजदरबार में रहे, जहाँ उन्हें उचित सम्मान और प्रतिष्ठा मिली।

सन् 1564 की बात है। वे जेरूसलम का तीर्थ करके लौट रहे थे, तभी रास्ते में उन्हें यह खबर मिली कि उनके वनवास की अवधि पूरी हुई। अब वे फिर से पदुआ में प्रोफेसर के पद के लिए चुन लिए गए हैं। लेकिन भाग्य की विडंबना! ऐसा हो न सका ! उनका समुद्री जहाज़ दुर्घटनाग्रस्त हो गया और आधुनिक शरीर विज्ञान की नींव रखने वाला यह दीपक हमेशा-हमेशा के लिए बुझ गया।

किन्तु इस दीपक की लौ ने आने वाली पीढ़ियों के बहुत से चिकित्सकों को उजाला दिखाया। उनकी पुस्तक '**फेब्रिकी**' में दिए गए मानव देह की रचना के विवरण से चिकिंत्सा विज्ञान की सभी शाखाओं को वैज्ञानिक आधार मिला। इस दिशा में सबसे अधिक लाभान्वित हुई शल्यचिकित्सा। क्यों? क्योंकि एक शल्यचिकित्सक के लिए यह जानना अनिवार्य है कि शरीर के जिस भाग का वह आपरेशन करने जा रहा है उसकी रचना कैसी है – वहाँ कौन-सी मांस-पेशियाँ हैं, कौन-सी रक्त वाहिकाएँ हैं, कौन-सी तंत्रिकाएँ हैं आदि। यह जानकारी होने पर ही वह आपरेशन के समय उन्हें क्षतिग्रस्त होने से बचा सकता है और रोगवश उत्पन्न हुई समस्या का हल ढूँढ़ सकता है।

मजमा लगाने वाले सर्जन

डम-डम, डम-डम, ... नगर में ढिंढ़ोरा पिट रहा था – "पथरी निकलवा लो, पथरी निकलवा लो। पथरी के रोगी ध्यान दो। कल सुबह ठीक दस बजे बड़े बाज़ार में (मूत्राशय की) पथरी के आपरेशन किए जायेंगे। जिस किसी को पथरी का आपरेशन करवाना हो, वह वहाँ हाज़िर हो जाए। नगर में 'उस्ताद पथरी निकाल' आए हुए हैं।

"पथरी निकलवा लो, पथरी....।"

कुछ ढिंढ़ोरा पीटने वाले की रोबदार आवाज़ का असर था, तो कुछ यूँ ही – एक मुँह से दूसरे मुँह – यह खबर हर गली – मौहल्ले में जा पहुँची थी। गली-गली चर्चा गर्म थी, लोग एक दूसरे से कह रहे थे "यह अच्छा मौका है पथरी की शिकायत से छुटकारा पाने का। सुना है यह पथरी निकालने वाला उस्ताद काफी होशियार है। बहुत से आपरेशन कर चुका है। कुछ ही मिनटों में पथरी निकाल देता है।"

सुबह होते ही बड़े बाज़ार के बीच मैदान में लोगों का भारी जमघट लग गया। रोगी तथा उनके सगे-संबंधी, और उससे कहीं अधिक तादाद में आपरेशन देखने के लिए उत्सुक दर्शकगण वहाँ एकत्र हो गए थे। उस्ताद के कुछ शार्गिद वहाँ पहले से मौजूद थे, जिनमें से एक ने रोगियों के नाम दर्ज़ किए और उन्हें एक कतार में बैठा दिया।

घोड़े पर सवार हो दस बजे उस्ताद भी वहाँ आ पहुँचा। उसने अपने शल्य औज़ार सजाए और आदेश दिया कि पहला रोगी आपरेशन के लिए लाया जाए। इसके बाद उसने अपना कोट पहना, जो वह वर्षों से आपरेशन



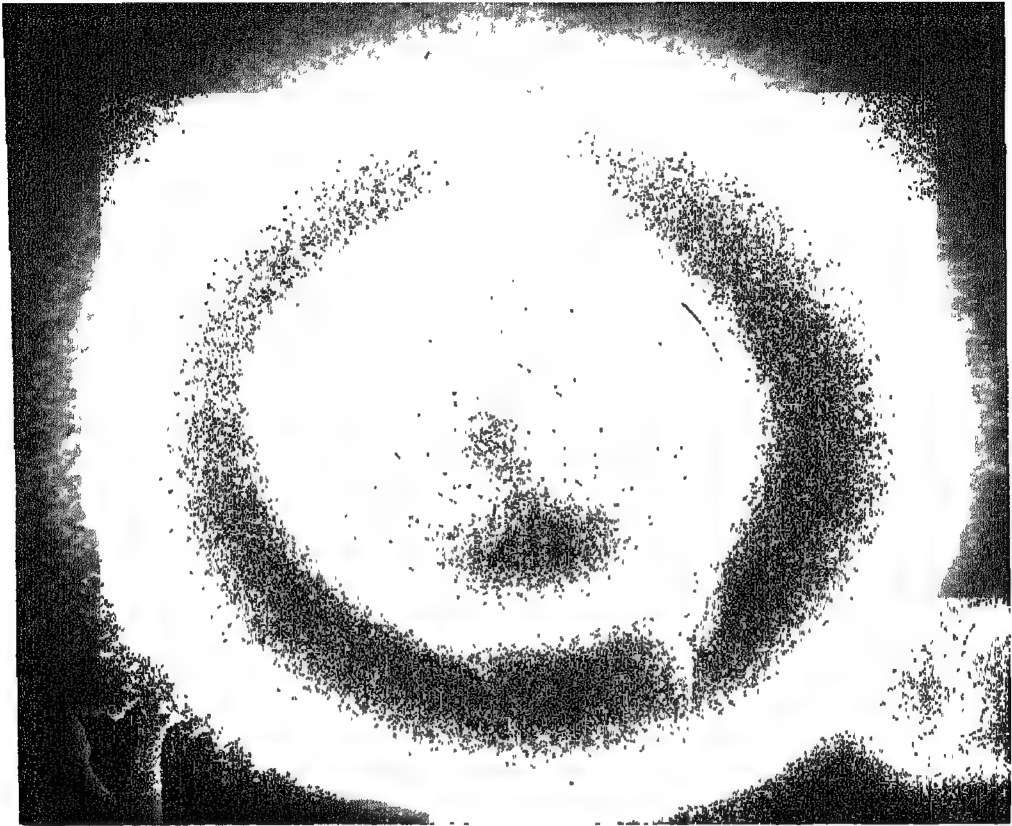
दो-तीन व्यक्ति रोगी को पकड़े रहते और शल्यचिकित्सक जैसे तैसे सर्जरी करता – एनेस्थिजिआ के आगमन से पहले का एक दृश्य

के समय पहनता आया था, जिस पर जगह जगह खून के निशान थे। उसे अपने इस कोट पर बड़ा नाज़ था। लोग कोट को देखते ही पहचान लेते थे कि वह एक मँजा हुआ अनुभवी उस्ताद है। उस समय कौन जानता था कि सफाई भी महत्त्वपूर्ण है। रोगाणु–सिद्धांत और इंफेक्शन के बारे में तो किसी को जानकारी थी ही नहीं। उस्ताद आपरेशन पूरा करता और खून से सने औज़ारों को कोट के किसी हिस्से पर ही साफ कर लेता।

इतने में पहला रोगी उस्ताद के सामने लाया गया। उसे कुछ समय पहले ही एक मादक पदार्थ पिला दिया गया था। उस्ताद ने उसे वहीं एक लंबी मेज़ पर लिटाया और भरे बाज़ार में आपरेशन शुरू कर दिया। पहला चीरा लगते ही रोगी का नशा हवा हो गया। किंतु दो-तीन तगड़े आदमियों ने उसे कस कर पकड़ रखा था। वह दर्द से बिलबिलाता रहा और न-न करते हुए बस उसने किसी तरह आपरेशन पूरा करवा ही लिया। उस्ताद ने भी तेज़ी दिखाई। एक के बाद एक रोगी को वह उसी मेज़ पर लिटाता गया और तेज़ी से उनके आपरेशन करता चला गया। इसके बाद उसने अपने औज़ार समेटे, रोगियों से फीस वसूल की और अपने साथियों के साथ वहाँ से नौ-दो-ग्यारह हो गया।

यह दृश्य मध्य युग में इंग्लैंड और फ्रांस के किसी भी नगर में देखा जा सकता था। मूत्राशय की पथरी उन दिनों वहाँ एक आम समस्या बनी हुई थी। इसका उपचार केवल यह आपरेशन था, जिससे कुछ रोगी तो भले-चंगे हो जाते थे। लेकिन बहुत से रक्तस्राव और इंफेक्शन के कारण जीवन से हाथ धो बैठते।

वह समय ही ऐसा था! रोमन साम्राज्य के पतन के साथ ही सर्जरी ने अपनी मर्यादा खो दी थी। यूरोप एक अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण दौर से गुज़र रहा था। वैज्ञानिक सोच पर तो मानो अंकुश लग चुका था, चारों ओर अंधविश्वास एवं संकीर्ण विचारों के काले बादल मँडरा रहे थे। ऐसे में भला



चिकित्सक समाज कैसे बचा रह सकता था। उनके लिए अब रोगी के शरीर से छेड़छाड़ करना, उसे काटना-पीटना या कहें सर्जरी करना, गरिमा के अनुकूल नहीं रह गया था। वे केवल औषधियों और कुछ अंधविश्वासों के आधार पर ही रोगी की चिकित्सा करते थे। इससे अब तक जो शल्य-तकनीकें विकसित हुई थीं, वे भी खो चली थीं।

तब समय की आवश्यकता ने एक नई किस्म के शल्यचिकित्सकों को जन्म दिया। कुछ हज्जामों ने शल्यचिकित्सा को अपना लिया। उस्तरा चलाना तो वे जानते ही थे, फिर कुछ ने मेडिकल स्कूलों में नौकरी भी की थी। वहाँ वे एनेटमी कक्षाओं में मृत मानव देह की डिसेक्शन का काम किया करते थे। इससे वे मानव देह की रचना से कुछ हद तक परिचित हो गए थे। उस्तरे की जगह अपने हाथों में उन्होंने अब शल्य औज़ार संभाल

लिए। वे नगर-नगर फेरी लगाते और रोगी के घर पर अथवा किसी सार्वजनिक स्थान पर रोगियों को इकट्ठा कर अपनी कला दिखाते। हज्जाम से शल्य चिकित्सक बनने के कारण उनका नाम **बार्बर-सर्जन** पड़ गया।

शुरू में यह कला एक पारिवारिक व्यवसाय के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रही। जैसे-जैसे समय बीता, कुछ स्थानों पर सर्जरी के स्कूल भी खुल गए। इनमें पेरिस का सेंट कॉम कालेज सबसे मशहूर था। यहाँ एक निश्चित फीस देकर दाखिला मिलता और अनुभवी सर्जन शल्यचिकित्सा की शिक्षा देते।

अनुभव, क्षमता और शिक्षा के आधार पर अब बार्बर-सर्जन की तीन श्रेणियां बन गईं। उन श्रेणियों के अनुसार उन्हें अलग-अलग किस्म के आपरेशन करने की अनुमति प्राप्त थी। एक आचार संहिता भी तैयार की गई, जिसमें बहुत सी अन्य बातों के अलावा यह जानकारी भी थी कि किस आपरेशन के लिए रोगी से कितनी फीस लेनी होगी।

समय के साथ-साथ अनुभव से शल्यचिकित्सा का रूप निखरता चला गया। कुछ प्रतिभावान् बार्बर-सर्जनों ने इस कला में वैज्ञानिक सोच को जगाने की चेष्टा भी की। इनमें फ्रांसीसी बार्बर-सर्जन एम्ब्रोस पारे और ब्रिटेन के जॉन हंटर अग्रणी थे। पारे आधुनिक सर्जरी के जनक कहे जाते हैं। उधर चिकित्सक एन्ड्रियस विसेलियस की कड़ी लगन और मेहनत भी रंग लाई। मानव देह-रचना की सही जानकारी से सर्जरी को वैज्ञानिक आधार मिल गया। इस तरह अनुभव, सोच और नए ज्ञान से सर्जरी समृद्ध होती चली गई। किंतु इसके बावजूद एक लंबे समय तक शल्यचिकित्सा और चिकित्सा विज्ञान एक दूसरे से जुड़ न सके। बीच-बीच में विलय के प्रयास तो हुए, लेकिन आपसी स्पर्धा के कारण यह गठबंधन बार-बार टूटता रहा।

समय ने धीरे-धीरे इस फासले को पाट ही दिया और उन्नीसवीं सदी में शल्यचिकित्सा और चिकित्सा विज्ञान पूर्णतः एक दूसरे के पूरक हो गए। शल्यचिकित्सा को पूरी मान्यता मिल गई और अब शुभारम्भ हुआ एक नए युग का, जिसने शल्यचिकित्सा को एक नया रूप दिया।



अचेतन अवस्था के कुछ क्षण

---

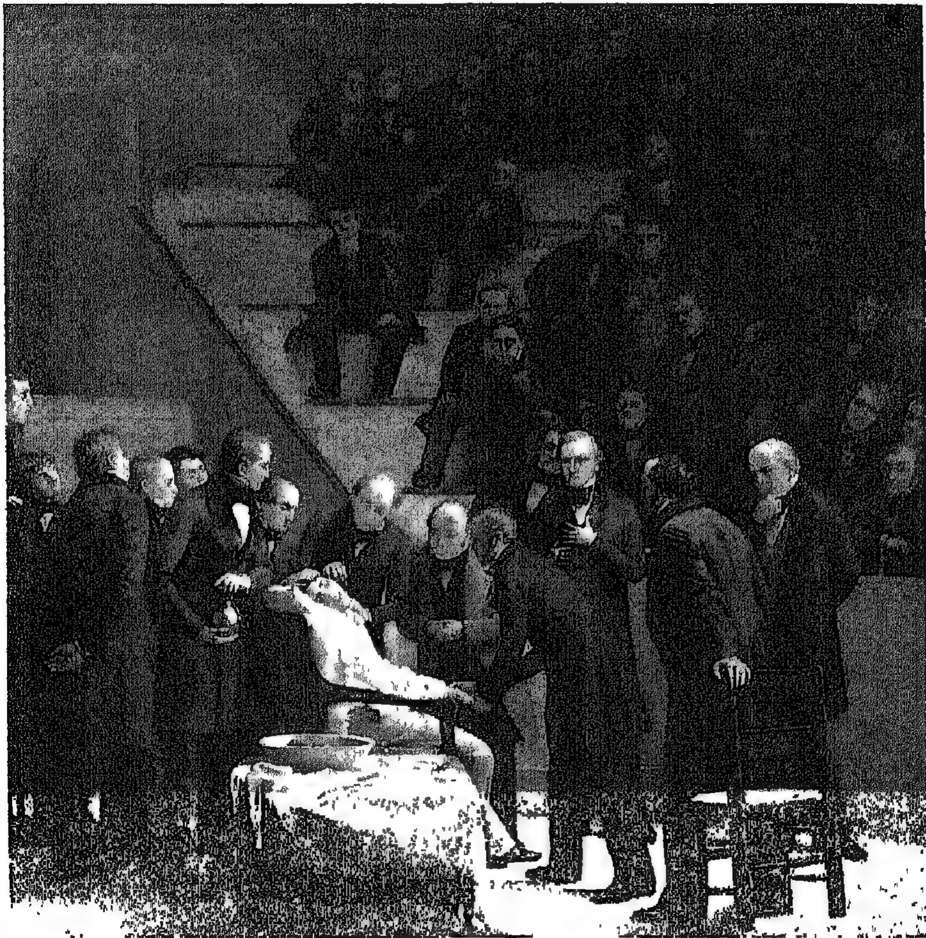
16 अक्तूबर, सन् 1846। अमरीकी शहर बोस्टन का विशाल मेसाच्यूसेट्स अस्पताल। मुख्य आपरेशन कक्ष में असाधारण भीड़। दर्शक गैलरी डाक्टरों और मेडिकल छात्रों से खचाखच भरी हुई है। आपरेशन कुर्सी पर एक रोगी बैठा है, जिसे जबड़े के ट्यूमर की तकलीफ है। आज उसका आपरेशन है।

आपरेशन शुरू होने को है। शल्य औज़ारों की ट्राली लगाई जा चुकी है। सर्जन जान वॉरेन भी अपना स्थान ग्रहण कर चुके हैं। प्रतीक्षा है तो डाक्टर मॉर्टन के आगमन की। उनका दावा है कि वह आज एक ऐसी तकनीक का प्रदर्शन करेंगे, जिससे आपरेशन के दौरान रोगी को ज़रा भी दर्द महसूस न होगा। वहाँ मौजूद अधिकतर चिकित्सक यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि ऐसी कोई तकनीक भी हो सकती है क्या? किन्तु एक जिज्ञासा और कौतूहल अवश्य है, जिससे वे सभी वहाँ इकट्ठे हुए हैं।

प्रतीक्षा की घड़ी समाप्त हुई। दरवाज़ा खुला और हाथ में शीशे का एक ग्लोब थामे डॉ० मॉर्टन आपरेशन कक्ष में दाखिल हुए। उनके आते ही वॉरेन ने व्यंग किया "**सर, योर पेशेंट इज़ रेडी** (आपका मरीज़ तैयार है)।"

डॉ० मॉर्टन, वॉरेन के इस लहजे से ज़रा भी प्रभावित न हुए। उन्होंने पहले रोगी के मन का डर दूर किया। फिर ग्लोब के एक सिरे पर बनी चौड़ी

नली की ओर इशारा करते हुए मरीज़ से बोले, "तुम्हें बस इसे अपने मुँह में रखना होगा और इसके ज़रिए साँस लेते रहना होगा।" फिर ग्लोब के



16 अक्तूबर, 1946 मेसाच्यूसेट्स अस्पताल का मुख्य आपरेशन कक्ष

ऊपरी भाग में बने एक छिद्र को उन्होंने **ईथर** (बेहोशी की दवा) से भीगे हुए स्पंज से ढक दिया।

प्रयोग शुरू होते ही चारों ओर सन्नाटा छा गया। सभी टकटकी लगाए रोगी और डॉ० मॉर्टन की ओर देखने लगे। मॉर्टन के आदेश पर रोगी ने ग्लोब के माध्यम से साँस लेना शुरू किया। कुछ ही क्षणों बाद रोगी के शरीर में हरकत हुई। उसके शरीर की माँस-पेशियों में पल-भर के लिए खिंचाव-सा आया। फिर उसकी पलकों ने उसकी आँखों को ढक लिया और वह अचेत अवस्था में चला गया। अब डॉ० मॉर्टन ने सर्जन वॉरेन को इशारा किया कि वह आपरेशन शुरू करें।

जब वॉरेन ने रोगी की गर्दन पर शल्य-चाकू से पहला चीरा लगाया तो देखनेवाले आश्चर्यचकित रह गए। रोगी के मुख से उफ तक न निकली। आपरेशन आगे बढ़ा। वॉरेन के सधे हाथों ने चीरा लगी त्वचा के दोनों छोरों को ऊपर उठाया और नीचे के ऊतकों के बीच से ट्यूमर को ढूँढ़ निकाला। रक्त-वाहिकाओं, तंत्रिकाओं को बचाते हुए वह ट्यूमर को जड़ से अलग करते चले गए। फिर उन्होंने ट्यूमर को बाहर निकाला और त्वचा पर टाँके लगा दिए। रोगी अब भी उसी तरह शांत मुद्रा में साँस लेता रहा।



मॉर्टन



दो-तीन व्यक्ति रोगी को पकड़े रहते और शल्यचिकित्सक जैसे-तैसे सर्जरी करता – एनेस्थिजिआ के आगमन से पहले का एक दृश्य

थोड़ी देर बाद रोगी में चेतना आई उसने आँखें खोली। जब उसे पता चला कि आपरेशन पूरा हो चुका है, तो उसके चेहरे पर खुशी की लहर दौड़ गई।

यह देख कर सर्जन वॉरेन से भी रहा न गया। उन्होंने एलान किया, "**जेंटलमेन दिस इज़ नो हमबग** (यह तकनीक कोई पाखंड नहीं)।"

शल्यचिकित्सा के लिए यह एक ऐतिहासिक क्षण था। शताब्दियों से आपरेशन करवाना रोगी के लिए उसके आत्म-साहस और सहन-शक्ति का कड़ा इम्तहान हुआ करता था। सर्जन द्वारा लगाया गया हर चीरा असहय वेदना का आमंत्रण होता था। रोगी छटपटाता, दर्द के कारण चीखता-चिल्लाता था। किन्तु उसे दो-तीन लोग कस कर पकड़े रहते थे।

कुछ रोगी तो आपरेशन शय्या पर ही दम तोड़ देते। यही कारण था कि रोगी आपरेशन के लिए तभी हामी भरता जब कोई और रास्ता दिखाई न देता था। यही कारण था कि शल्यचिकित्सा कुछ ही आपरेशनों तक सीमित रह गई थी। दुर्घटनाग्रस्त शरीर के अंगों का विच्छेदन, पथरी का आपरेशन, टूटी हुई हड्डियों को जोड़ना, अपनी जगह से हटे हुए जोड़ों को ठीक करना – जैसे छोटे-मोटे आपरेशन ही किए जाते थे। बड़े आपरेशन करने की तो सर्जन सोच भी नहीं सकते थे। प्रत्येक आपरेशन के दौरान उन पर भारी मानसिक दबाव रहता था। आपरेशन को उन्हें जल्दी से जल्दी पूरा करना होता था जिससे कि रोगी को कम-से-कम वेदना सहन करनी पड़े।

इन समस्याओं को दूर करने के लिए ही चिकित्सक सैंकड़ों वर्षों से एक सक्षम संवेदनाहारी औषधि ढूँढ़ने में लगे हुए थे। अब मॉर्टन की सफलता से वह सपना साकार हुआ। आपरेशन के दौरान क्षण-क्षण पर वेदना और यातना की करुण कहानी का अंत हुआ। साथ ही जन्म लिया एक नई चिकित्सा शाखा ने, जिसके माध्यम से आपरेशन के दौरान रोगी को चैन की नींद सुलाया जा सकता था। उसकी पीड़ा संवेदना को पूरी तरह से शांत किया जा सकता था। अब सर्जन भी पूरी तरह निश्चिंत होकर आपरेशन कर सकते थे।

यह नई चिकित्सा शाखा थी – **एनेस्थिजिआ**, जो अल्प समय में ही तेज़ी से आगे बढ़ निकली।

प्रारंभ में संवेदनाहारी औषधि देने के तरीके पूरी तरह से विश्वसनीय न थे। किंतु इसमें तकनीकी विकास के साथ-साथ तेज़ी से परिवर्तन आता गया। संवेदनाहारी गैस देने के लिए 'मास्क' बनाए गए। रोगी उसके ज़रिए साँस लेता और हवा के साथ-साथ संवेदनाहारी औषधि उसके शरीर में प्रवेश कर जाती। उन्नत किस्म के नए यंत्र भी तैयार हुए, जिनसे अब विशेषज्ञ रोगी के शरीर में पहुँचने वाली संवेदनाहारी औषधि की

मात्रा और रोगी की श्वास-क्रिया पर पूरा-पूरा नियंत्रण रख सकते हैं।

ईथर और **नाइट्रस आक्साइड** के बाद बहुत-सी नई संवेदनाहारी



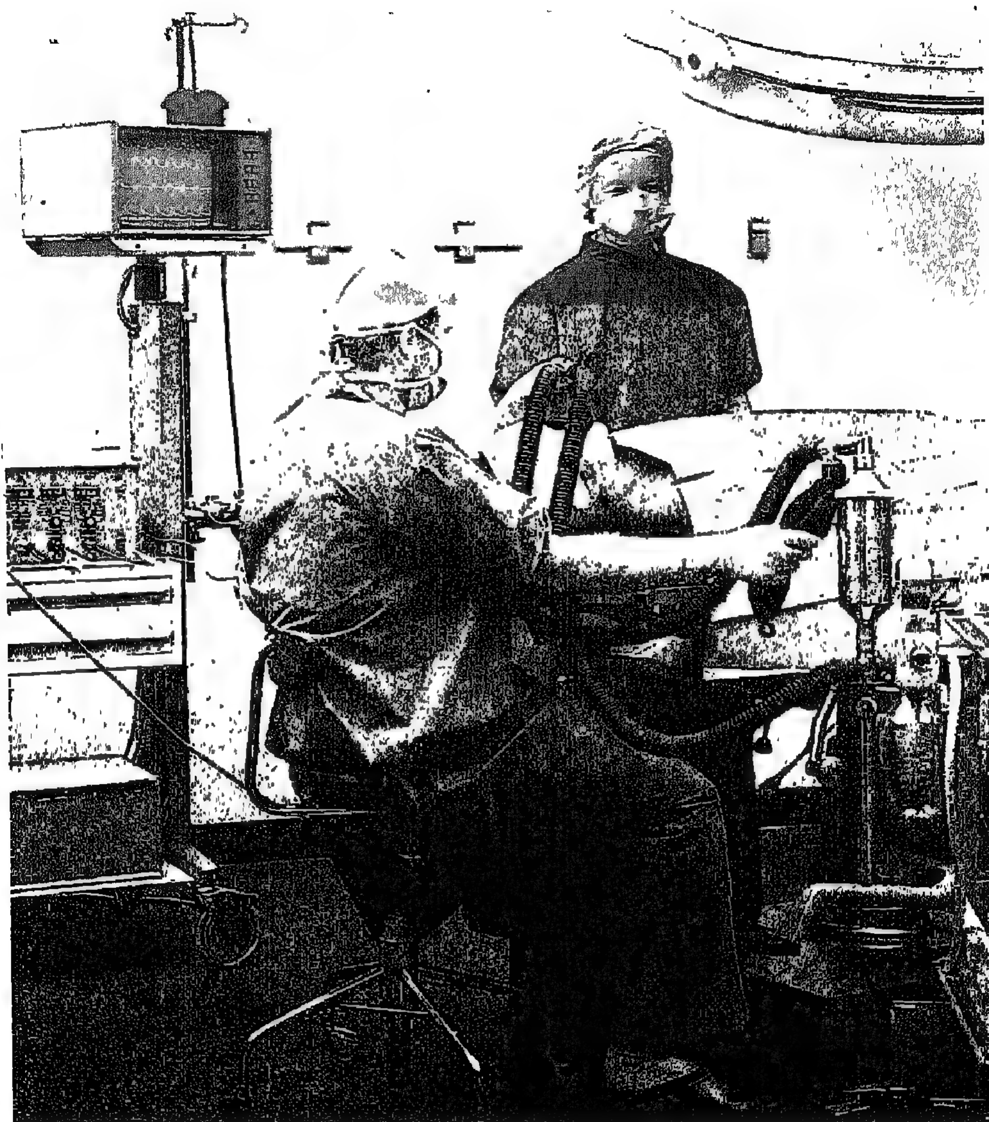
संवेदनाहारी औषधि देने वाला मास्क जो रोगी के चेहरे पर नाक और मुँह के ऊपर लगा है

औषधियाँ भी ढूँढ़ी गईं। इनमें **क्लोरोफार्म, साइक्लोप्रोपेन, ट्राइलिन, हेलोथेन,** और **मैथाक्सीफ्लोरेन** उल्लेखनीय हैं। कौन-सा आपरेशन होना है, वह कितने घंटे चलेगा, रोगी की हालत कैसी है – इन महत्त्वपूर्ण तथ्यों को ध्यान में रखकर ही आज एनेस्थिजिआ विशेषज्ञ यह निर्णय लेते हैं कि कौन-सी संवेदनाहारी औषधि अमुक आपरेशन के लिए सबसे उपयुक्त रहेगी।

आजकल कुछ ऐसी संवेदनाहारी औषधियाँ भी उपलब्ध हैं, जिन्हें रोगी की शिराओं में दिया जा सकता है, किन्तु इनका असर कुछ ही समय तक रह पाता है। इसलिए इन्हें अल्प-अवधि के आपरेशनों में और बड़े आपरेशनों को शुरू करने के लिए ही दिया जाता है।

आपरेशन के समय रोगी की मांस-पेशियों को ढीला रखने के लिए भी सक्षम औषधियाँ ढूँढ़ ली गई हैं। ऐसी पहली औषधि **क्यूरेरे** थी। इसे कुछ उत्साही चिकित्सकों ने दक्षिण अमेरिका के बीहड़ जंगलों से प्राप्त किया था। वहाँ के कुछ कबीले जीव-जन्तुओं का शिकार करने के लिए अपने तीरों को एक ख़ास किस्म के रसायन में भिगोया करते थे। जब तीर निशाने पर लगता तो शिकार की मांस-पेशियाँ एकाएक शक्तिहीन हो जातीं। वह लड़खड़ा कर गिर पड़ता। कुछ चिकित्सक यह रसायन अपने साथ प्रयोगशाला में ले आए। जब उसका विश्लेषण हुआ तो पाया गया कि उसमें क्यूरेरे है। आज क्यूरेरे जैसी कई औषधियाँ कृत्रिम रूप से तैयार की जाती हैं। इनके देने से मांस-पेशियों का कसाव दूर हो जाता है, जिससे सर्जन के लिए आपरेशन करना अधिक सहज हो जाता है।

आधुनिक एनेस्थिजिआ का एक और महत्वपूर्ण पक्ष है – **लोकल** (स्थानीय) **एनेस्थिजिआ**। शरीर के किसी विशेष भाग को सुन्न करने के लिए अब रोगी को बेहोश करने की आवश्यकता नहीं रही है। कुछ ऐसी औषधियाँ विकसित कर ली गई हैं, जिन्हें इंजेक्शन द्वारा उचित स्थान पर

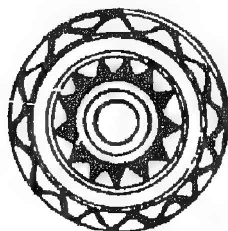


एक आधुनिक आपरेशन थिएटर में संवेदनाहारी देते हुए बेहोशी के डाक्टर

देने से उस भाग की दर्द-संवाहक तंत्रिकाएँ कुछ समय के लिए काम करना बंद कर देती हैं। इतने में सर्जन आपरेशन पूरा कर लेता है।

शल्यचिकित्सा की प्रगति में एनेस्थिजिआ ने एक अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह एनेस्थिजिआ का ही चमत्कार है कि आज शल्यचिकित्सक लंबे-से-लंबे अवधि का आपरेशन पूरी तरह निश्चिंत होकर कर सकते हैं। आपरेशन के दौरान रोगी के दिल की धड़कन श्वास-क्रिया और रक्त-चाप सामान्य बनाए रखने का दायित्व मुख्य रूप से एनेस्थिजिआ विशेषज्ञ के कंधों पर ही होता है। आपरेशन पूरा होने के बाद भी ज़रूरत पड़ने पर वे रोगी को अपनी देख-रेख में रखते हैं।

इसके अलावा, ऐसे रोगी जिनकी हालत अधिक गंभीर होती है उनकी देखभाल की जिम्मेवारी भी एनेस्थिजिआ विशेषज्ञ की ही होती है। इसके लिए बड़े अस्पतालों में गहन चिकित्सा कक्ष **(इंटेन्सिव केयर युनिट)** बने होते हैं। यहाँ तरह-तरह के अत्याधुनिक यंत्र होते हैं। इनसे रोगी को ज़रूरत पड़ने पर कृत्रिम रूप से साँस दी जा सकती है, हृदय की बिगड़ी लय सामान्य बनाई जा सकती है और उसके शरीर में घट रही हर क्रिया पर क्षण प्रतिक्षण कड़ी नज़र रखी जा सकती है।



एक बड़ी जीत

वह सन् 1865 के अगस्त महीने की एक रात थी। चारों तरफ गहरा अंधेरा छाया था। आसमान में एकादशी के चाँद और बादलों के बीच सदियों से चला आया आँख-मिचौली का खेल चल रहा था। ग्लेसगो विश्वविद्यालय सन्नाटे में डूबा था। किन्तु एक कमरे में अब भी प्रकाश जगमगा रहा था। रह-रहकर पैरों की गूँज सुनाई पड़ती थी। पास जाने पर ज्ञात हुआ कि यह कमरा विश्वविद्यालय के सर्जरी अध्यक्ष का था, जहाँ डॉ० जोसॅफ लिस्टर गंभीर चिंतन में डूबे इधर-से-उधर घूम रहे थे।

शल्यचिकित्सक के रूप में गुज़रे पिछले तेरह वर्षों में डॉ० लिस्टर ने सर्जरी में युग परिवर्तन होते देखा था। उनके देखते-ही-देखते एनेस्थिजिआ का आगमन हुआ था, जिससे सर्जरी वेदना-रहित हो गई थी। शल्यचिकित्सक अब पहले से कहीं अधिक निश्चिंत होकर आपरेशन कर सकते थे। रोगी भी शल्यचिकित्सा के नाम से इतने आतंकित नहीं रह गए थे। किन्तु यह नया रूप पाकर भी शल्यचिकित्सा पूरी तरह सुरक्षित न हो पाई थी। कई रोगियों का आपरेशन तो ठीक-ठीक हो जाता, किन्तु कुछ दिन बाद उनका घाव सूज कर लाल हो जाता, उसमें मवाद पड़ जाता और सारा शरीर तपने लगता। इसके बाद भी कुछ रोगी तो स्वस्थ हो जाते, लेकिन बहुतों के शरीर में ज़हर फैल जाता और वे अस्पताल में ही दम तोड़ देते।

घाव में मवाद पड़ना उन दिनों आम घटना थी। अधिकतर शल्य-चिकित्सकों की मान्यता थी कि घाव भरने के लिए उसमें मवाद पड़ना एक स्वाभाविक क्रिया है। इसलिए मवाद को **'लॉडेबल पस'** (गुणकारी मवाद) की संज्ञा दे दी गई थी।



जोसफ लिस्टर

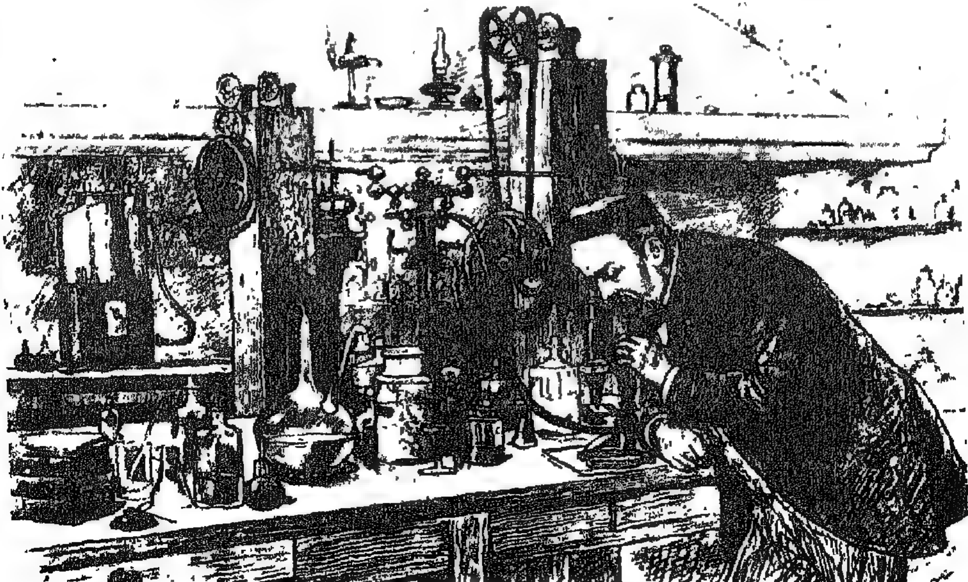
किन्तु डॉ० लिस्टर का संवेदनशील हृदय इन परिस्थितियों को स्वीकार न कर पाता था। रोगियों की अकाल मृत्यु को देख वे रोष और असंतोष से भर उठते। उनका मन यह जानने के लिए बैचेन हो उठता कि आखिर ऐसा कौन-सा कारण है जो रोगी के लिए काल बन जाता है? उन्हें इस बात का एहसास हो गया था कि घाव में पड़े मवाद और रोगी के शरीर में ज़हर फैलने के बीच सीधा संबंध है। अतः घाव में मवाद और सड़ाँध उत्पन्न होने के कारण जानना उनके लिए अत्यन्त ही आवश्यक हो गया। वे इसके लिए हर समय प्रयत्नशील रहते। दिन-रात कड़ी मेहनत करते, सर्जरी के बाद जितना समय मिल पाता उसमें प्रयोग करते और अपने अन्य शल्यचिकित्सक मित्रों से विचार-विर्मश करते।

उस रात भी वे इसी समस्या पर विचार कर रहे थे। तभी दरवाज़े पर दस्तक हुई। डॉ० लिस्टर ने दरवाज़ा खोला तो पाया कि सामने उनके प्रिय

मित्र, प्रोफेसर थॉमस एंडरसन खड़े हैं। एंडरसन एक सुविख्यात रसायन वैज्ञानिक थे। लिस्टर ने आगे बढ़कर उनका अभिवादन किया और आदर के साथ उन्हें भीतर आने के लिए कहा।

एंडरसन उन व्यक्तियों में से थे, जो डॉ० लिस्टर के मन की पीड़ा समझते थे। उन्हें ज्ञात था कि लिस्टर घाव में हो जाने वाली सड़ाँध का रहस्य जानने के लिए कार्य कर रहे हैं। उनके पास कुछ ही दिन पहले फ्रांसिसी रसायनज्ञ लुई पाश्चर का एक लेख आया था। मदिरा बनाते समय अंगूर के रस में कभी-कभी क्यों सड़न उत्पन्न हो जाती है, इसी विषय को लेकर पाश्चर ने अनुसंधान किया था। एंडरसन ने जब यह लेख पढ़ा तो उन्हें लगा शायद यह लिस्टर के लिए उपयोगी सिद्ध हो। वे यह जानकारी देने के लिए ही लिस्टर के पास आए। वे लिस्टर से बोले, "जोसफ, मेरे पास हाल ही में एक लेख आया है, वह रसायन शास्त्र से संबंधित है, किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि वह तुम्हारे लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा। जब समय मिले, मेरे कमरे में आकर उसे ले जाना।"

प्रयोगशाला में अनुसंधान करते हुए लुई पाश्चर



नेक काम में देरी कैसी ! लिस्टर अगले दिन प्रोफेसर एंडरसन से वह लेख ले आए और ध्यानपूर्वक उसे पढ़ने लगे। उन्हें पाश्चर का लेख सचमुच अद्‌भुत लगा। उसमें पाश्चर ने एक बिल्कुल नए सिद्धांत को सामने रखा था। परीक्षणों द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित किया था कि मदिरा में सड़न उत्पन्न होने के कारण हैं—सूक्ष्म जीव। वे हवा से अंगूर के रस से भरे कनस्तरों में उतर आते हैं। उनके रस में पनपने से ही रस से दुर्गंध आने लगती है। बैक्टीरिया नामक ये जीव केवल माइक्रोस्कोप द्वारा ही देखे जा सकते हैं। डॉ० लिस्टर ने जब यह लेख पढा तो उनके वैज्ञानिक मस्तिष्क को इस नई जानकारी का महत्त्व समझने में देर न लगी। "हवा में उपस्थित बैक्टीरिया जब अंगूर के रस में सड़न उत्पन्न कर सकते हैं, तो वे घाव में भी तो....." यह विचार मस्तिष्क में कौंधते ही वह उत्साह से उछल पड़े। अब उन्हें बहुत-सी बातों का निदान मिल गया था। साधारण फ्रेक्चर जोड़ने में



एक पुराने समय का सूक्ष्मदर्शी। सूक्ष्मदर्शी से ही रोगाणुओं की दुनिया की खोज हुई

उन्हें क्यों कभी अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था, उसमें मवाद क्यों नहीं पड़ता था ? इसलिए कि उसमें रोगाणु बैक्टीरिया भीतर दाखिल नहीं हो पाते थे। जबकि ऐसे फ्रेक्चर जिसमें हड्डी टूटने के साथ-साथ घाव होता था **(कंपाउंड फ्रेक्चर)**, उसमें प्रायः ही मवाद पड़ जाया करता था। ऐसा दूषित हवा के भीतर घुस पाने के कारण ही होता होगा, यह समझ पाना अब उनके लिए सहज हो गया।

कारण स्पष्ट हो जाने के बाद अब अगला कदम था कि समस्या का निराकरण कैसे किया जाए ? घाव को रोगाणु बैक्टीरिया से कैसे बचाया जाए ? लिस्टर ने अपने एक साथी से यह सुना था कि पास के एक शहर में नाले-नालियों से आ रही दुर्गंध को दूर करने के लिए वहाँ फिनाइल का उपयोग किया जा रहा था। उससे हवा में फैली दुर्गंध पूरी तरह से दूर हो गई थी। लिस्टर ने निश्चय किया कि वे भी आपरेशन के समय फिनायल को अजमा कर देखेंगे, क्या उससे घाव की रक्षा हो सकती है या नहीं ?

कुछ दिनों बाद जब कंपाउंड फ्रेक्चर का एक रोगी आया तो उन्होंने ऐसा ही किया। घाव को उन्होंने फिनायल के घोल से अच्छी तरह साफ़ किया। फिर नर्स को आदेश देते हुए वे बोले, "वार्ड में जो सबसे साफ़ तौलिया हो, उसे उबाल कर मेरे पास ले आओ। उसी से मरीज़ की पट्टी की जाएगी।"

ऐसे तो उन दिनों पट्टी के लिए शल्यचिकित्सक फटे-पुराने कपड़ों का ही इस्तेमाल करते थे। लोग बदन से उतरे पुराने कपड़े इसके लिए अस्पतालों को दान में दे दिया करते थे। उन्हें धोए बिना ही काम चला लिया जाता था।

डॉ० लिस्टर ने उस उबाले गए साफ तौलिए से मरीज़ की पट्टी की। फिर वे रोज़ाना इसी तरह मरीज़ की पट्टी बदलते रहे। आश्चर्य ! मरीज़ की टाँग का घाव कुछ ही दिनों में ठीक हो गया।

अब तो लिस्टर दुगने उत्साह के साथ कार्य करने लगे। जब भी वे आपरेशन करते उनका एक सहयोगी हवा में फिनायल का स्प्रे (छिड़काव) करता रहता। उन्होंने आपरेशन थिएटर के तौर-तरीकों में भी काफ़ी परिवर्तन किए।

उन दिनों अधिकतर सर्जन अपने गंदे-पुराने, सूखे हुए रक्त के धब्बों से सने हुए कोट को पहन कर ही आपरेशन किया करते थे। वर्षों तक वह कोट बिना धुला रहता था। आपरेशन से पहले हाथ धोना उन्हें अनावश्यक लगता था। कई बार तो वे शव-परीक्षण के बाद सीधे ही आपरेशन करने में जुट जाते। उनके शल्य औज़ार भी ऐसे ही किसी मेज़ अथवा ट्राली पर पड़े रहते। घाव में टाँके लगाने के लिए उपयोग में लाए जाने वाले धागों को वे कोट के बटन में डालकर घूमा करते थे। वह इसलिए कि धागे हर समय उनकी पहुँच में रहें। अब ऐसी परिस्थितियों में भला **इंफेक्शन** (रोगाणुओं का धावा) कैसे न होता ?

किंतु डॉ० लिस्टर ने यह सब बदल दिया। इस दिशा में नई हिदायतें जारी की गईं। उनके आपरेशन थिएटर में अब आपरेशन से पहले हाथ धोना अनिवार्य हो गया। आपरेशन करते समय प्रत्येक व्यक्ति के लिए धुले हुए साफ़-सुथरे कपड़े पहनना ज़रूरी हो गया। शल्य औज़ारों को फिनायल के घोल में रखा जाता और पट्टियों को अच्छी तरह उबाला जाता। डॉ० लिस्टर ने नई किस्म के तागे भी विकसित किए। भेड़ की आँखों से बने इन तागों (**केटगट**) में यह खूबी थी कि उन्हें आपरेशन के बाद काट कर निकालने की ज़रूरत न थी। वे अपना काम पूरा कर स्वयं ही शरीर में घुल-मिल जाते। शल्यचिकित्सक आज भी इन धागों को इस्तेमाल में लाते हैं।

जैसा कि होता आया है, इन परिवर्तनों का शुरू-शुरू में अधिकतर चिकित्सकों ने कड़ा विरोध किया। किंतु कुछ ही समय बाद इसके अच्छे

परिणाम सबके सामने आए थे। लोगों ने देखा ग्लेसगो अस्पताल के सर्जरी वार्ड में अद्‌भुत करिश्मा-सा हुआ। अब वहाँ सड़ाँध का नामों-निशान न रहा। सर्जरी वार्ड की मृत्यु दर में एकाएक कमी आ गई। रोगी आपरेशन करवाते और भले-चंगे होकर अस्पताल से छुट्टी पाते।

डॉ० लिस्टर ने निश्चय किया कि वे अपने इन अनुभवों से अन्य शल्यचिकित्सकों को अवगत कराएंगे। 9 अगस्त, 1867 ई० के दिन, ब्रिटिश मेडिकल एसोसिएशन की एक सभा में उन्होंने अपने अनुभव प्रस्तुत किए।

किन्तु सभा में उपस्थित अधिकतर शल्यचिकित्सक इस नई जानकारी को पचा न सके। उन्हें लगा कि डॉ० लिस्टर सरासर झूठ कह रहे हैं। कहीं घाव में मवाद पड़ने की स्वाभाविक क्रिया को भी रोका जा सकता है!

किन्तु उस सभा में कुछ सर्जन ऐसे भी थे, जो खुले विचारों के थे। उन्होंने डॉ० लिस्टर के सुझावों को परखने का निश्चय किया। जब उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से इसकी सफलता देखी, तो वे भी इन्हें बढ़ावा देने लगे।

इस तरह धीरे-धीरे **एंटी-सेपसिस** (रोगाणु-रोधी) सिद्धांत की जड़ें मजबूत होती गईं। आपरेशन के दौरान रोगाणुओं के आक्रमण (इंफेक्शन) के विरूद्ध अभियान तेज़ हो गया। फिनायल के स्थान पर नए किस्म के अन्य **एंटी-सेपटिक** रसायन ढूँढ़ निकाले गए। इनमें पारे और जस्ते से बने कुछ मिश्रण प्रमुख थे।

इस प्रकार शल्यचिकित्सा को एक नया आयाम मिला। एनेस्थिजिआ के आने से सर्जरी पीड़ा-रहित तो हो ही गई थी, अब एंटीसेपसिस (रोगाणु-रोधी) सिद्धांत के आते ही वह अधिक सुरक्षित भी हो गई।

धीरे-धीरे और भी परिवर्तन आए। महसूस किया गया कि घाव

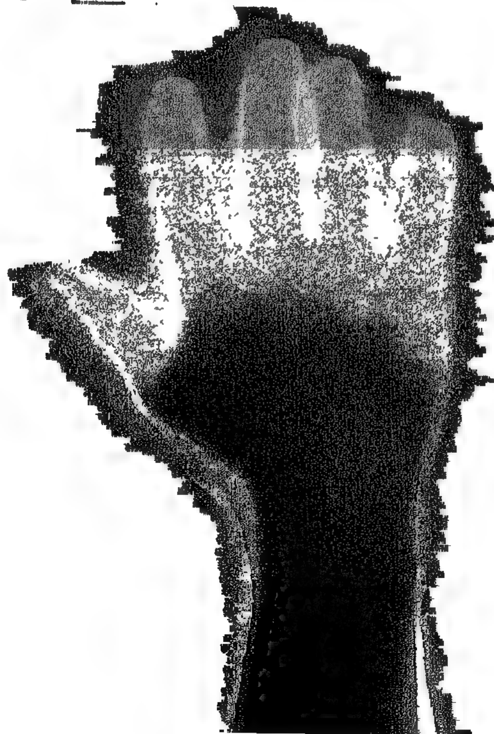


आपरेशन करते समय सर्जन स्टरलाइज्ड गाउन पहनने के साथ-साथ सिर पर टोपी और नाक-मुँह पर मास्क भी लगाते हैं

अथवा आपरेशन के चीरे को रोगाणुओं से बचाने के लिए हवा में फिनायल का छिड़काव निरंतर करते रहना आवश्यक नहीं। ज़रूरत इस बात की है कि आपरेशन शुरू करने से पहले सर्जन खूब रगड़कर अपने हाथ धोए, साफ़ सुथरे कपड़े पहने और शल्य औज़ारों व पट्टियों को उबाल कर साफ़ रखे। साथ ही, रोगी की त्वचा आपरेशन शुरू करने से पहले अच्छी तरह साफ़ की जाए।

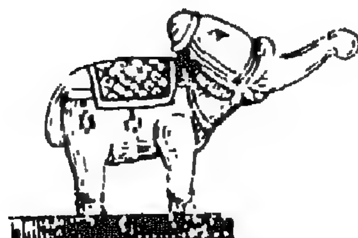
इसके बाद जैसे-जैसे और अधिक तकनीकी विकास हुआ, आपरेशन थिएटर और शल्यचिकित्सक के पहनावे में और अधिक परिवर्तन हुए।

आजकल आपरेशन करते समय शल्यचिकित्सक पूरी तरह रोगाणु-रहित (**स्टरलाइज़ड**) गाउन तो पहनते ही हैं, साथ ही सिर पर टोपी और नाक व मुँह के आगे मास्क भी लगाए रहते हैं। वे हाथों में रबड़ के स्टरलाइज़ड दस्ताने भी पहनते हैं। शल्य औज़ारों को साफ़ करने के लिए भी अब एक नई विधि अपनाई जाती है। उच्च ताप एवं दाब पर तैयार की गई भाप से उन्हें साफ़ किया जाता है, जिससे शल्य औज़ार जीवाणु-रहित भी हो जाते हैं और उनकी धार भी बनी रहती है। इसके लिए बड़े अस्पतालों में बड़े-बड़े यंत्र, जिन्हें '**ऑटोक्लेव प्लांट**' कहते हैं, लगाए जाते



हैं। इनमें शल्य औज़ारों और पट्टियों आदि को जीवाणु रहित बना, इसी तरह साफ़ की गई विशेष ट्रे में पैक कर आपरेशन थिएटर में ले जाया जाता है। आपरेशन थिएटर की हवा स्वच्छ रहे, इसके लिए वहाँ विशेष किस्म की वातानुकूलित प्रणाली का इंतज़ाम भी किया जाता है और अनावश्यक लोगों के अंदर जाने पर सख्त मनाही रहती है। आपरेशन थिएटर के द्वार पर टिमटिमाता बल्ब और यह चेतावनी, **'आपरेशन इन प्रोग्रेस, डू नॉट एंटर'** इसी आशय से लगाई जाती है। यह इसलिए कि आने-जाने वाले लोगों के ज़रिए रोगाणु कहीं भीतर न दाखिल हो जाएं। आपरेशन के बाद भी, शुरू के दिनों में इसी कारण रोगी के सगे-संबंधियों को उससे मिलने पर रोक लगा दी जाती है।

किंतु हर संभव सावधानी बरतने के बावजूद अब भी किसी-किसी रोगी के घाव में मवाद पड़ ही जाता है। लेकिन अब इस समस्या का समाधान भी चिकित्सकों के पास उपलब्ध है। अब वे एंटीबायोटिक औषधियों की मदद से रोगाणु बैक्टीरिया को परास्त कर सकते हैं।



रक्त ही जीवन है

रंग लाल, गुण अनेक
बहता रहता क्षण प्रत्येक,
दान इसका महादान
जो दे, कर्ण कहलाए,
जीवन का आधार है यह
बूझो तो क्या है यह ?
जग कहे रक्त है यह।

हाँ ! रक्त ही है वह। हमारी जीवन नौका का केवट। शरीर के रोम-रोम में बसी कोशिकाओं के जीवन का आधार। उन तक ऑक्सीजन एवं ग्लूकोज़ रूपी ईंधन पहुँचाने वाला एवं अनेक जैविक रसायनों को शरीर के एक भाग से दूसरे भाग तक ले जाने वाला।

रक्त सचमुच बहुत ही परिश्रमी है। शरीर के क्रियाकलाप सुचारू ढंग से चलते रहें, इसके लिए वह चौबीसों घंटे लगभग 65 किलोमीटर प्रति घंटे की तेज़ रफ्तार से शरीर में फैली रक्त-वाहिकाओं के जाल में क्रमबद्ध तरीके से भागता-दौड़ता है। इसका एक चक्र लगभग 1,19,000 किलोमीटर लंबा होता है।

आज हम रक्त के बारे में बहुत कुछ जानते हैं, किंतु प्राचीनकाल में जब रक्त एक रहस्यमय पहेली बना हुआ था, तब भी उसे शक्ति का आधार माना जाता था। प्राचीनकालीन मानव जब जीव-जंतुओं का शिकार करता था, तो शिकार किए गए जंतुओं के शरीर से वह रक्त एकत्र कर लेता था। फिर एक विशेष समारोह आयोजित किया जाता था। इसमें वह अपने इष्ट देवी-देवताओं को पूजता और गाने-बजाने के साथ रक्त को अपने बदन पर छिड़कता था। उस समय वह यह सोचता था कि ऐसा करने से उसका शरीर अधिक शक्तिशाली हो जाएगा। यह मात्र उसके मन का भ्रम था, किंतु इसमें उसका पूर्ण विश्वास था और इसलिए यह प्रथा सदियों तक जीवित रही।

इसके बाद कुछ कबीलों में रक्त सेवन की प्रथा भी प्रचलित हो गई। स्वास्थ्यलाभ के लिए रोगी को रक्त पीने के लिए दिया जाता रहा। इससे उसे राहत मिलना स्वाभाविक ही था। रक्त के माध्यम से लौह तत्व और प्रोटीन उसके शरीर में पहुँच जाते थे।

प्राचीनकाल से लेकर सोलहवीं सदी तक रक्त रहस्य की चादर में छिपा रहा। हाँ, गैलन ने इसके बारे में कुछ लिखा तो सही, लेकिन उसमें वैज्ञानिक पुट कम ही था। सोलहवीं सदी में जब विसेलियस ने एनेटमी की नींव रखी तब कहीं जाकर रक्त-वाहिकाओं के बारे में जानकारी प्राप्त हो पाई। किंतु विसेलियस भी यह न बता पाए कि रक्त शरीर में कैसे दौड़ता है।

यह महत्त्वपूर्ण जानकारी दी विलियम हार्वे ने। हार्वे ब्रिटेन के सम्राट चार्ल्स प्रथम के निजी चिकित्सक थे। सम्राट के वे बहुत प्रिय थे। जब वे आखेट खेलने जाते तो उनके घोड़े के साथ-साथ हार्वे का घोड़ा भी होता। हार्वे ने आखेट स्थल को ही अपनी प्रयोगशाला बना डाला। वे पकड़े गए जंतुओं पर परीक्षण करते। उनके सीने को खोल कर उनके दिल का

अध्ययन करते। अपने परीक्षणों द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित कर दिखाया कि दिल ही वह पंप है, जिससे रक्त पंप होकर शरीर में फैली रक्त-धमनियों द्वारा शरीर के हर भाग में पहुँचता है। रक्त संचार प्रक्रिया का बारीकी से अध्ययन कर उन्होंने इसके बारे में विस्तार से लिखा।

एक रक्त संचार चक्र में क्या-क्या घटता है, यह जानकारी अब चिकित्सकों को मिल गई। शरीर के सभी भागों से दूषित रक्त शिराओं के रास्ते दिल के दाएँ पंप में पहुँचता है, जहाँ से वह फेफड़ों में साफ होने के लिए भेज दिया जाता है। यह साफ ऑक्सीजन-युक्त रक्त अब दिल के बाँए पंप में पहुँचता है और दिल के इस भाग से निकल रही महाधमनी के रास्ते-जो बहुत-सी धमनियों में बंटती जाती है – शरीर के कोने-कोने में पहुँच जाता है।

विलयम हार्वे, जन्तु परीक्षण में व्यस्त। उन्होंने ही रक्त-संचार-प्रणाली के बारे में जानकारी दी



रक्त संचार प्रणाली के बारे में प्राप्त हुई यह जानकारी आगे चलकर अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। रोगी के शरीर में रक्त की कमी को पूरा करने के लिए जब चिकित्सकों ने रोगी को रक्त चढ़ाने (रक्ताधान) की बात सोची तो उन्हें इस बारे में सोचना न पड़ा कि रक्त किस रास्ते चढ़ाया जाए। रोगी की शिरा इसके लिए उपयुक्त थी, क्योंकि उससे दिया गया रक्त तुरंत ही रक्त संचार प्रणाली में आ जाता है।

शल्यचिकित्सक हमेशा से ही इस समस्या से जूझते आए थे। युद्ध के मैदान में अथवा कहीं और, दुर्घटना हो जाने पर, घावों से रक्तस्राव होने के कारण हुई रक्त की कमी बहुत से व्यक्तियों के लिए जानलेवा बन जाती थी। बड़े आपरेशनों में भी रोगी का काफी खून बह जाता है। इस समस्या का हल ढूँढ़ने के लिए कुछ चिकित्सकों ने रोगी को रक्त चढ़ाने की सलाह दी।

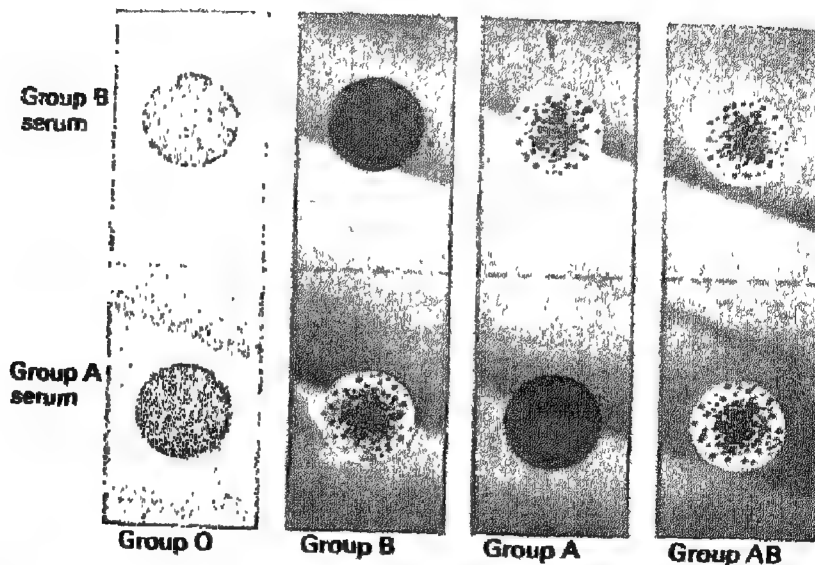
अब समस्या यह थी कि रक्त लाया जाए तो कहाँ से?

अन्ततः डेनिस नामक एक फ्रांसीसी चिकित्सक ने एक प्रयोग कर ही डाला। उसने कुछ व्यक्तियों के शरीर में मेमने का रक्त चढ़ाया।

पर मनुष्य और मेमने के रक्त के बीच भला क्या मेल! परिणाम यह हुआ कि कुछ रोगी परलोक सिधार गए और अगले डेढ़ सौ वर्ष तक किसी चिकित्सक ने रक्त चढ़ाने की हिम्मत तक न की। फिर काफी समय बाद एक अंग्रेज़ चिकित्सक ने यह विचार प्रस्तुत किया कि मनुष्य को मनुष्य का ही रक्त चढ़ाना उचित है। उन्होंने ऐसा किया भी। रोगी के किसी स्वस्थ निकट संबंधी की रक्त-धमनी को रोगी की शिरा से जोड़कर रक्त चढ़ाया गया। इससे ग्यारह रोगी तो भले-चंगे हो गए किन्तु चार ने अस्पताल में ही दम तोड़ दिया। स्पष्ट था कि रक्ताधान को पूरी तरह सफल बनाने के लिए अभी कुछ और जानकारी की ज़रूरत थी।

आखिर में सन् 1900 में वह महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई। वियना में

रक्त पर अनुसंधान करते हुए डॉ० कार्ल लैण्डस्टीनर ने पाया कि सभी व्यक्तियों का रक्त एक-समान नहीं होता। उसे मुख्य रूप† से चार वर्गों में बांटा जा सकता है- "ए", "बी", "ए-बी" एवं "ओ"। एक वर्ग का रक्त दूसरे वर्ग के रक्त से मेल नहीं खाता। अतः यह आवश्यक है कि रोगी और रक्तदाता का रक्त एक ही वर्ग का हो।



लैण्डस्टीनर द्वारा सन् 1900 में 'ए-बी-ओ' ब्लड-ग्रुप प्रणाली की खोज हुई, जिससे सफल रक्ताधान संभव हो पाया

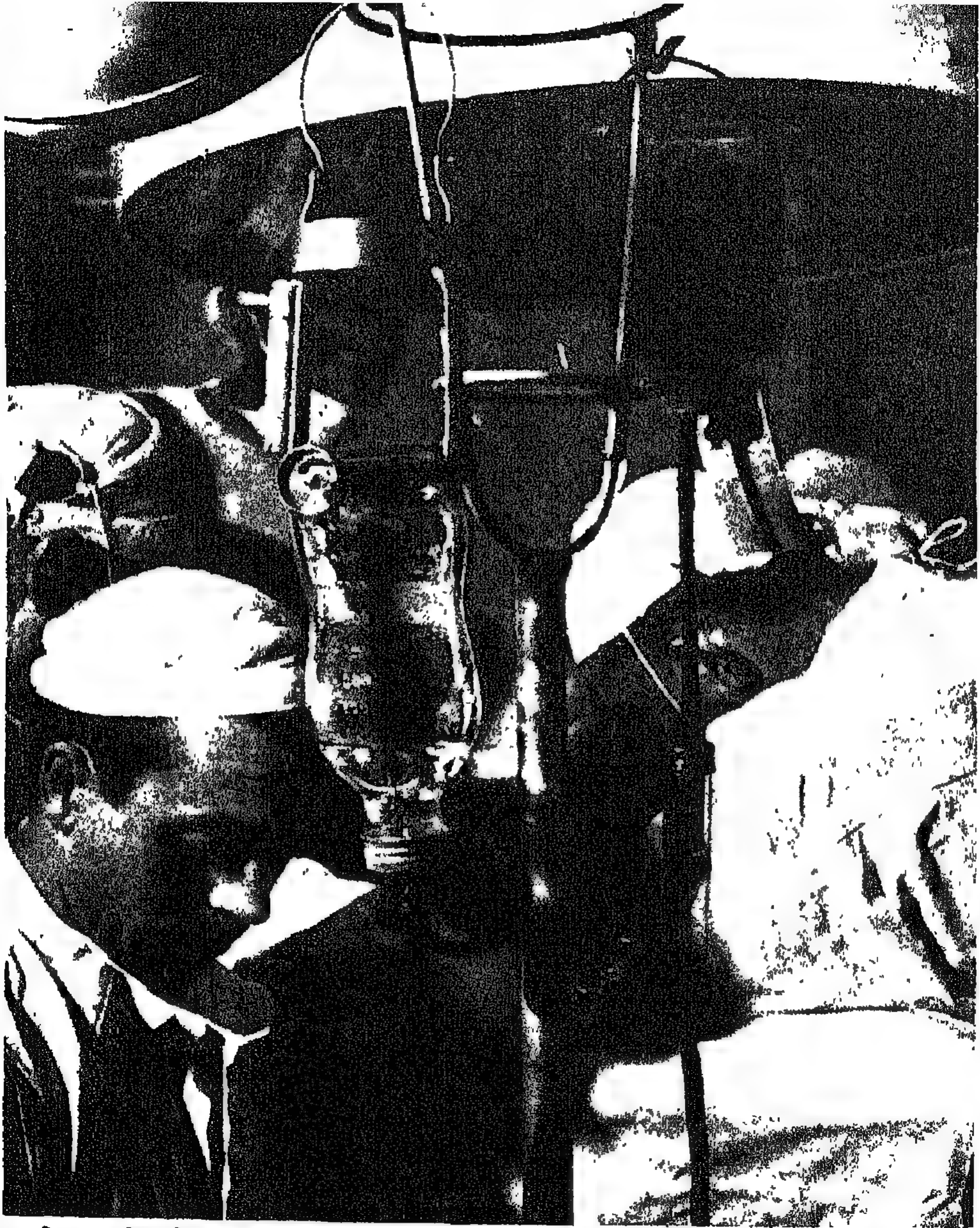
†अब 'ए-बी-ओ' ब्लड – ग्रुप प्रणाली के अलावा तीस अन्य ब्लड ग्रुप प्रणालियाँ भी खोज ली गई हैं।

यह रक्ताधान के अध्याय में एक अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण खोज थी। अब एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के शरीर में रक्त चढ़ाना इतना जोखिम-भरा काम न रहा। रक्त दाता और रोगी को साथ-साथ लिटा दिया जाता और रक्तदाता की किसी एक रक्तधमनी से रोगी की कोई एक शिरा जोड़ दी जाती। रक्तधमनी में शिरा से कहीं अधिक दाब होता है, अतः रक्तदाता की रक्तधमनी से रक्त रोगी की शिरा की ओर बहने लगता। आश्चर्यजनक प्रतीत होने वाली इस तकनीक से बहुत से रोगियों को सफलतापूर्वक रक्त चढ़ाया भी गया।

किन्तु एक समस्या अब भी बनी हुई थी। इस तकनीक से यह ठीक-ठीक जान लेना कठिन था कि रक्तदाता के शरीर से कितना रक्त रोगी के शरीर में पहुँच गया है। चिकित्सक केवल अनुमानों पर निर्भर रहते। रक्तदाता के चेहरे की रौनक, उसकी नब्ज़ और श्वास क्रिया को देखकर ही यह अनुमान लगाया जाता कि उसके शरीर से कहीं अधिक रक्त तो रोगी के शरीर में नहीं पहुँच गया। रोगी के लिए भी आवश्यकता से अधिक रक्त खतरनाक सिद्ध होता, उसका दिल अधिक रक्त को सह न पाता और डूबने लगता।

किन्तु चौदह वर्ष बाद, जब प्रथम महायुद्ध (सन् 1914) छिड़ चुका था, एक और महत्त्वपूर्ण खोज हुई। इससे रक्ताधान (खून चढ़ाने की क्रिया) तकनीक को एक नया मोड़ मिला। अर्जेंटीना के एक वैज्ञानिक ने **सोडियम साइट्रेट** नामक एक ऐसा रसायन खोज निकाला जिसकी मदद से रक्त को बोतल में एकत्रित किया जा सकता था। इससे पहले ऐसा कर पाना संभव न था, इसलिए कि बोतल में पहुँचते ही रक्त जमने लगता था। अब स्वस्थ व्यक्ति एक निश्चित मात्रा में रक्त दे सकते थे और रोगी को भी उसकी आवश्यकतानुसार रक्त चढ़ाया जा सकता था।

रक्ताधान तकनीक में हुए इस विकास से प्रथम महायुद्ध के दौरान



आपरेशन के दौरान एक रोगी को रक्त और ग्लूकोस साथ-साथ चढ़ाया जा रहा है

हज़ारों सैनिकों को जीवनदान मिला।

अब धीरे-धीरे यह जानकारी भी मिल गई कि इस तरह रक्तदाता से लिया गया रक्त, तीन हफ्तों तक सुरक्षित रखा जा सकता है। इसके लिए आवश्यकता है तो केवल यह कि वह चार डिग्री सैल्सियस के ठंडे तापमान में रखा जाए। इस तरह शुरुआत हुई ब्लड बैंकों की।

जगह-जगह ब्लड बैंक खुलने लगे। और अब तो विश्व के हर छोटे-बड़े शहर में ऐसे बहुत से ब्लड बैंक हैं, जहाँ ज़रूरतमंद व्यक्तियों के लिए रक्त एकत्र करके रखा जाता है। स्वस्थ व्यक्ति स्वेच्छा से अपना रक्त दे सकते हैं। रक्तदाता से एक बार में लगभग 300 मिलीलीटर रक्त लिया जाता है और स्वस्थ होने पर कोई भी व्यक्ति हर तीन महीने में एक बार रक्त-दान कर सकता है।

रक्ताधान तकनीक की सफलता, शल्यचिकित्सा के लिए एक वरदान सिद्ध हो रही है। इससे पहले शल्यचिकित्सक ऐसे आपरेशन करने में झिझकते थे, जिसमें यह अंदेशा रहता था कि रोगी के शरीर से अधिक रक्त न बह जाए। किंतु अब बड़े-से-बड़े आपरेशन संभव हो गए हैं। आपरेशन से पूर्व ही रोगी के रक्त से मेल खाता रक्त ब्लड बैंक से प्राप्त कर लिया जाता है और आवश्यकता को देखते हुए आपरेशन के दौरान एवं उसके तुरंत बाद वह रोगी को चढ़ा दिया जाता है।

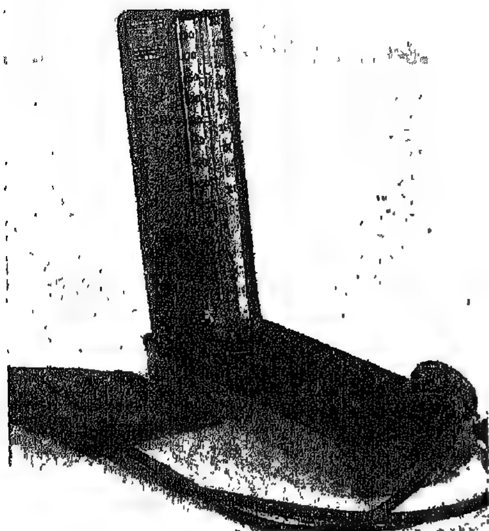


एक नए वृक्ष का उदय

बीसवीं सदी के आते-आते सर्जरी का पौधा खूब हरा-भरा हो गया था। शोध चिकित्सकों की कड़ी लगन और मेहनत से उसकी जड़ें पहले ही मजबूत हो चलीं थीं, अब दिनोंदिन प्राप्त हो रही नव जानकारी ने उस पर वसन्त ऋतु का-सा जादू किया। उसकी छोटी-छोटी टहनियों पर ढेरों नन्हीं-नन्हीं कोंपलें अंकुरित हो उठीं।

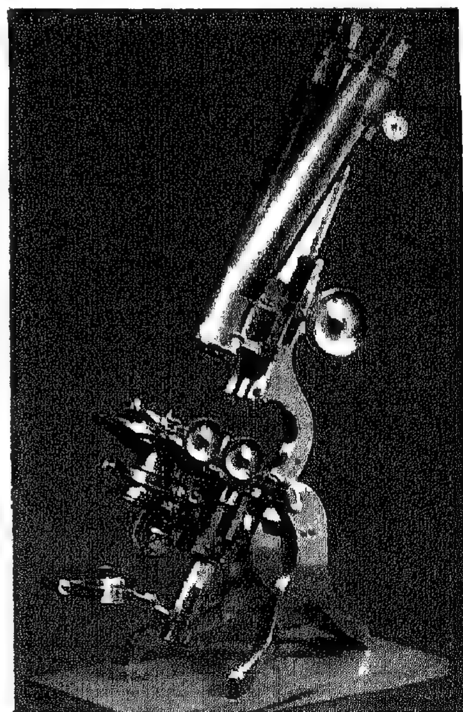
जोसफ लिस्टर (सन् 1827-1912) के समय से पूर्व पेट, छाती, मस्तिष्क एवं जोड़ों को खोलना शल्यचिकित्सकों के लिए वर्जित था। यहाँ तक कि दुर्घटनावश पेट खुल भी जाता, तो शल्यचिकित्सकों का यही प्रयास रहता कि बाहर निकले ऊतकों को ज्यों का त्यों भीतर कर पेट के घाव को शीघ्र से शीघ्र सिल दिया जाए। किन्तु अब, एसेपसिस के क्रांतिकारी सिद्धांत के आगमन के बाद मिल रही निरंतर सफलता से शल्यचिकित्सकों का उत्साह एवं साहस लगातार बढ़ता जा रहा था। उन्होंने अनुभव किया कि इंफेक्शन को दूर रखते हुए वे शरीर के किसी भी भाग को खोल सकते हैं। इस तरह नित्य नई शल्यतकनीकें विकसित होती चली जा रही थीं।

इसके साथ ही, शल्यचिकित्सकों का रोग-निदान **(डाएगनोसिस)** संबंधी ज्ञान भी प्रखर होता जा रहा था। वे रोगी के लक्षणों को सुन-देख



कर यह अनुमान लगा लेते थे कि कौन-सा रोग होने की संभावना है। अब तक आले (**स्टेथोस्कोप**), पेंडुलम, थर्मामीटर, और रक्तचाप-मापक-यंत्र का विकास भी हो चुका था। साधारण दिखने वाले ये यंत्र अत्यंत ही लाभप्रद सिद्ध हो रहे थे। आले के सहारे रोगी के फेफड़ों और हृदय का कुशल-क्षेम जाना जा सकता था। आँतों की क्रियाशीलता का अनुमान भी इसके द्वारा लगाया जा सकता था। पेंडुलम की मदद से नब्ज़ गिनी जा सकती थी। थर्मामीटर द्वारा रोगी के तापमान का लगातार रिकार्ड रखा जा सकता था।

रक्तचाप-मापक-यंत्र द्वारा रक्तदाब मापा जा सकता था। इस



पेथालॉजिस्ट का अभिन्न मित्र — एक आधुनिक माइक्रोस्कोप

तरह अब चिकित्सक रोगी की हालत में हो रहे उतार-चढ़ाव पर कड़ी नज़र रख सकते थे।

तीक्ष्ण दृष्टि प्राप्त शल्यचिकित्सकों के अनुभवों से भी शल्यचिकित्सा के ज्ञान में वृद्धि हुई। लक्षण देखकर रोग की पहचान की जाने लगी। उदाहरणार्थ **ऐपेंडिसाइटिस** की संभावना होने पर रोगी के पेट के निचले दाहिने भाग में, एक विशेष बिंदु पर, हाथ लगाते ही रोगी का दर्द के कारण उछल पड़ना इस बात का संकेत है कि रोगी को ऐपेंडिसाइटिस है।

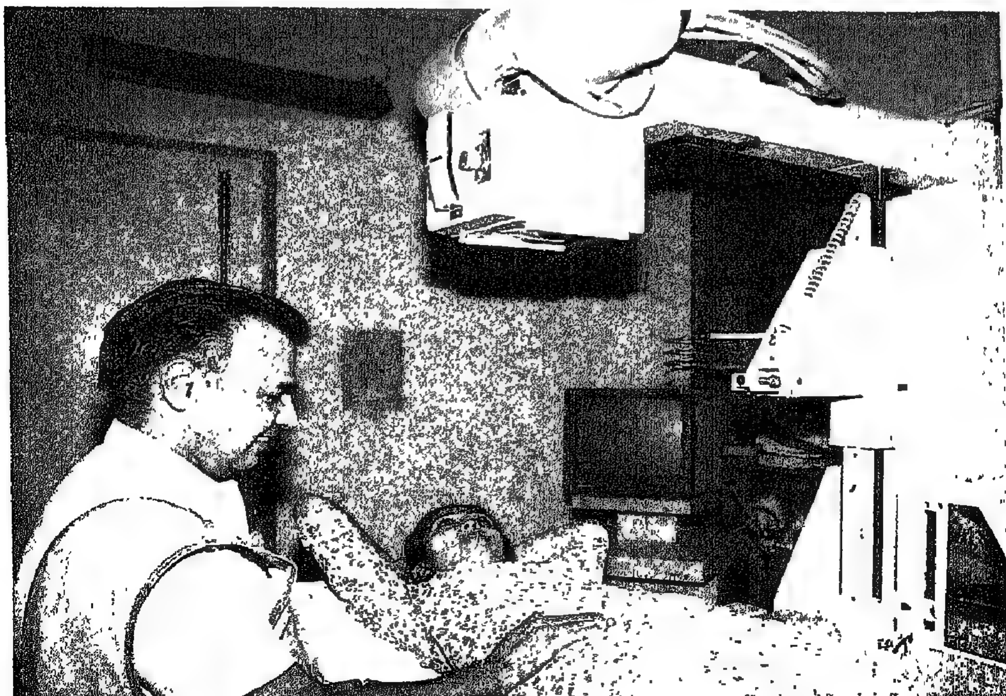
इस तरह जहाँ एक ओर शल्यचिकित्सा का ज्ञान समृद्ध हो रहा था, वहीं चिकित्सा विज्ञान की अन्य विधाएँ भी विकसित हो रहीं थीं। स्वाभाविक ही था कि इस विकास से शल्यचिकित्सा भी लाभांवित होती।

विकृति-विज्ञान **(पेथोलॉजी)** में हुई प्रगति से अब चिकित्सकों की रोगों के बारे में समझ बढ़ती चली गई। रोग क्यों होता है, वह शरीर में कैसे फैलता है, और उसके उपचार के लिए क्या करना चाहिए-जैसे बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का हल उन्हें पेथोलॉजी के माध्यम से मिलता गया। आज भी जब कभी सर्जन इस दुविधा में होता है कि रोगी को कौन-सा रोग है, तब वह पेथोलॉजी एवं अन्य रोग-निदान विधाओं का ही सहारा लेता है। वह शरीर के रोग-ग्रस्त भाग से छोटा-सा टुकडा ले कर उसे पेथोलॉजिस्ट के पास भेज देता है। इसे ही **'बायोप्सी'** कहते हैं। पेथोलॉजिस्ट रोगग्रस्त ऊतक का अध्ययन कर यह निर्णय देता है कि रोग किस किस्म का है। उसकी इस रिर्पोट के आधार पर ही शल्यचिकित्सक यह निर्धारित करता है कि उसे किस तरह का आपरेशन करना होगा। जैसे यदि बायोप्सी में कैंसर पाया गया हो, तो प्रयास यही रहता है कि जहाँ तक संभव हो, उसे जड़ सहित काट कर बाहर निकाल दिया जाए।

रोग की तह तक पहुँचने में एक्स-रे की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। सन् 1895 में खोजी गई इन किरणों के माध्यम से हड्डियों एवं शरीर के भीतरी

अंगों के चित्र सहज ही उतारे जा सकते हैं। उसके लिए आवश्यक समझे जाने पर रोगी को कुछ ऐसे रसायन भी दिए जाते हैं, जो भीतरी अंगों की जीवंत तस्वीर उतारने में सहायक सिद्ध होते हैं। ग्रासनली, अमाशय एवं आँतों का अध्ययन करने के लिए रोगी को ऐसा ही एक रसायन- **'बेरियम सल्फेट'** पिलाया जाता है। इससे इस भाग के अल्सर, ट्यूमर एवं अन्य तरह-तरह की रचनात्मक विकृतियाँ पहचानी जा सकती हैं। इसी तरह कुछ आयोडीन-युक्त रसायनों की मदद से पित्ताशय, जिगर, तिल्ली, गुर्दे एवं मूत्रवाहक प्रणाली, फेफड़ों, मेरू रज्जु एवं मस्तिष्क और शरीर के किसी भी भाग की रक्त-वाहिकाओं के साक्षात् एक्स-रे चित्र प्राप्त किए

एक आधुनिक एक्स-रे मशीन पर रोगी की जांच करते हुए विशेषज्ञ

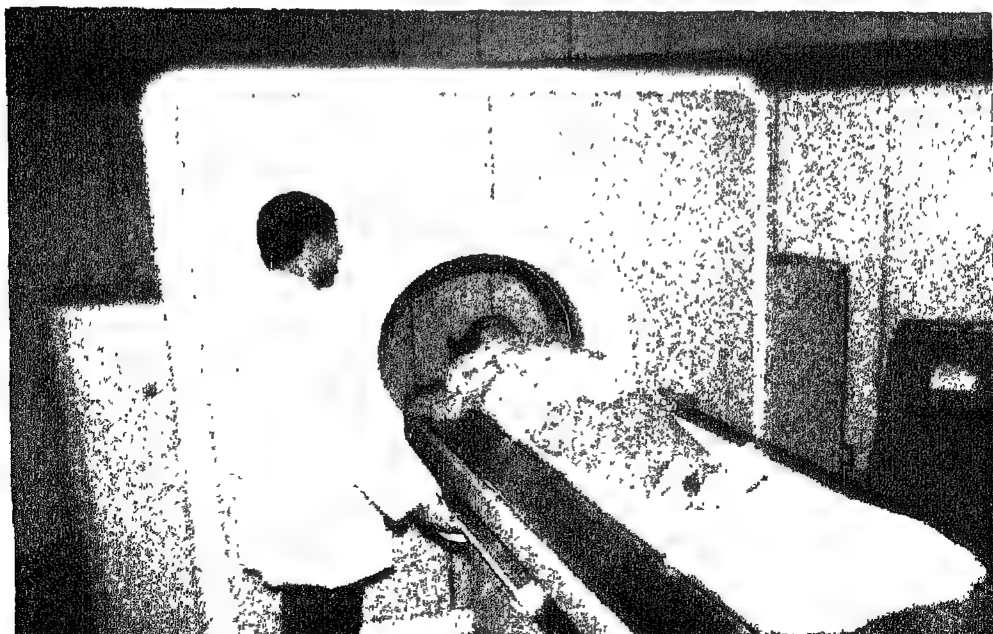


जा सकते हैं। कहाँ फोड़ा है, कहाँ खून का बहाव कम है, कैंसर कहाँ तक फैला है जैसी महत्त्वपूर्ण समस्याओं का निदान (डाएगनोसिस) एक्स-रे द्वारा संभव है।

हाल के वर्षों में एक्स-रे को कंप्यूटर से जोड़कर एक अभिनव 'कैट स्कैनर' नामक यंत्र विकसित किया गया है। इसके द्वारा शरीर के किसी भी भाग के तीन-आयामी चित्र लिए जा सकते हैं। रोगग्रस्त भाग का बारीकी से अध्ययन करने में यह यंत्र आज एक बेजोड़ भूमिका निभा रहा है।

रोग-निदान विशेषज्ञों ने सूक्ष्म ध्वनि तरंगों एवं चुम्बकीय शक्ति को भी उपयोग में लिया है। क्रमशः अल्ट्रासांऊड एवं एन०एम०आर० नामक इन यंत्रों की मदद से शरीर के बहुत से अंगों के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी सहज ही प्राप्त की जा सकती है।

कैट स्कैनर यंत्र





एंडोस्कोप द्वारा विशेषज्ञ एक अल्सर रोगी की जांच करते हुए

कुछ इस तरह के यंत्र भी विकसित किए गए हैं, जिन्हें शरीर के अंदर पहुँचा कर शरीर के भीतरी अंगों की हालत जानी जा सकती है। टयूबनुमा लम्बे पतले **"एंडोस्कोप"** नामक इन यंत्रों के अग्र भाग में एक बैटरी चलित बल्ब लगा होता है। शरीर के नैसर्गिक छिद्र-मुँह अथवा उदर-के रास्ते इन्हें भीतर पहुँचाकर इनके माध्यम से फेफड़ों, ग्रासनली, अमाशय एवं आंतों को जीती-जागती हालत में देखा जा सकता है। आवश्यक होने पर विशेषज्ञ इसके द्वारा उस भाग की बायोप्सी भी ले सकते हैं।

तेजी से हो रही तकनीकी प्रगति का भी शल्यचिकित्सा ने पूरा-पूरा लाभ उठाया है। नए-नए किस्म के शल्य औज़ारों के विकास से शल्य-चिकित्सकों की दक्षता अधिकाधिक निखरती जा रही है। हाल के वर्षों में सर्जनों के लिए एक नया किस्म का चाकू, जिसमें लेसर किरणों का प्रवाह रहता है, विकसित किया गया है। इस लेसर चाकू की धार बहुत ही सूक्ष्म

एवं सुनिश्चित है। मिलीमीटर के अंश तक के ऊतक भी इसके द्वारा पूर्ण सफलता के साथ काटे- जा सकते हैं। महीन शल्य- क्रियाओं के लिए सर्जनों



लेसर – शल्यचिकित्सा में एक क्रांतिकारी कदम

ऑपरेटिंग माइक्रोस्कोप, जिसकी मदद से अब शल्यविशेषज्ञ महीन से महीन शल्य क्रियाएं कर सकते हैं





नई दवाओं की खोज से भी सर्जरी के हाथ मजबूत हुए

ने सुनारों से प्रेरणा लेकर अति सूक्ष्म शल्य औज़ार भी विकसित कर लिए हैं। साथ ही, माइक्रोस्कोप को भी अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल लिया है। इनसे ही माइक्रोसर्जरी का जन्म हुआ है।

इसके साथ ही, नित्य नई विकसित हो रही औषधियाँ-विशेषकर एंटीबायोटिक्स, स्टीराएडस, रोगाणु रोधक एवं कैंसर-नाशक दवाओं के आगमन से भी सर्जन के हाथ मजबूत हुए हैं।

इस तरह दिनोंदिन शल्यचिकित्सा समृद्ध होती जा रही है। बीसवीं सदी की शुरुआत में सर्जरी के पौधे से जो कोंपलें अंकुरित हुई थीं, उन्होंने अब पूर्ण शाखाओं का रूप धारण कर लिया है।

पेट की शल्यचिकित्सा : एक चुनौती भरे दौर का अंत

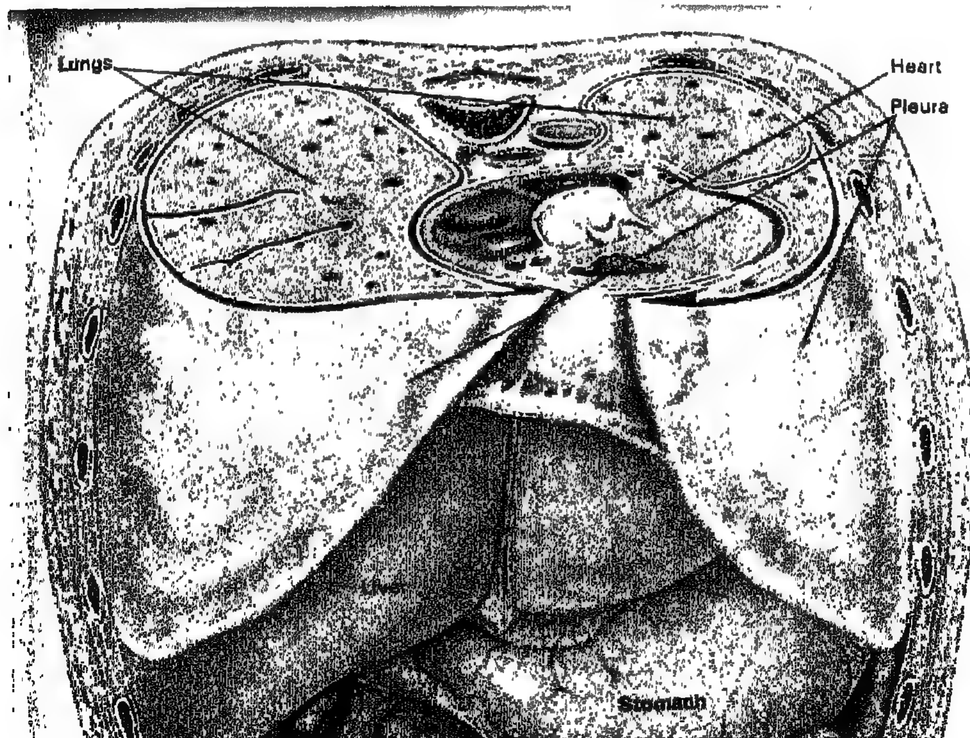
सन् 1902 जून, लंदन के बाज़ार और कूंचे नई नवेली दुल्हन की तरह सजे हुए थे। युवराज एडवर्ड सप्तम् के राज्याभिषेक की तैयारियाँ लगभग पूरी हो चलीं थीं। अचानक शुभ दिन से बारह रोज़ पहले युवराज के पेट में ज़ोरों का दर्द होने लगा। तत्काल राज-चिकित्सक को युवराज के सिरहाने बुला लिया गया। रोगी की जाँच हुई तो परामर्श मिला कि दर्द एपेंडिक्स की सूजन के कारण है, उचित यही होगा कि आपरेशन किया जाए। किंतु युवराज आपरेशन के लिए तैयार न हुए। कुछ दिनों में जैसे-तैसे दवा और आराम से वे ठीक महसूस करने लगे। राजतिलक से तीन दिन पहले 23 जून की शाम को बकिंहगम पैलेस में एक भव्य रात्रि भोज का आयोजन हुआ। सब कुशल-मंगल था कि उस रात अचानक युवराज को फिर ज़ोरों का दर्द होने लगा और कुछ ही घंटों में उनकी हालत चिंताजनक हो गई। अब आपातकालीन आपरेशन करने के अलावा कोई और रास्ता बचा न था। अतः युवराज ने हामी भरते हुए भारी मन से राज्याभिषेक स्थगित करने का आदेश दिया। आपरेशन शुरू हुआ। पेट खोलते ही शल्यचिकित्सकों ने पाया कि एपेंडिक्स के चारों ओर भारी मात्रा में मवाद इकट्ठा हो चुका है। सर्जनों ने उसे बाहर खींच लिया और धीरे-धीरे युवराज की हालत सुधरती

चली गई। सात सप्ताह बाद पूरी शानो-शौकत के साथ राज्याभिषेक की रस्म अदा की गई। ब्रिटेन की प्रजा अपने बादशाह को स्वस्थ देख खुशी से झूम उठी।

ब्रिटिश राजघराने से जुड़ी यह महत्त्वपूर्ण घटना इस तथ्य की साक्षी है कि लिस्टेरियन युग (सन् 1867 से) के आगमन से सर्जरी का रूप एकाएक कितना अधिक बदल गया था। तीन-चार दशक पहले तक तो पेट को खोलना भी शल्यचिकित्सा के मूल सिद्धांतों के अनुसार वर्जित था। किंतु अब शल्यचिकित्सक पूर्ण उत्साह के साथ पेट के विभिन्न अंगों की सर्जरी करने लगे थे। पेट संबंधी सर्जरी अब लोकप्रियता के शिखर पर जा पहुँची।

उदर (पेट) है भी तो भानुमति के पिटारे के समान! तरह-तरह के अंग

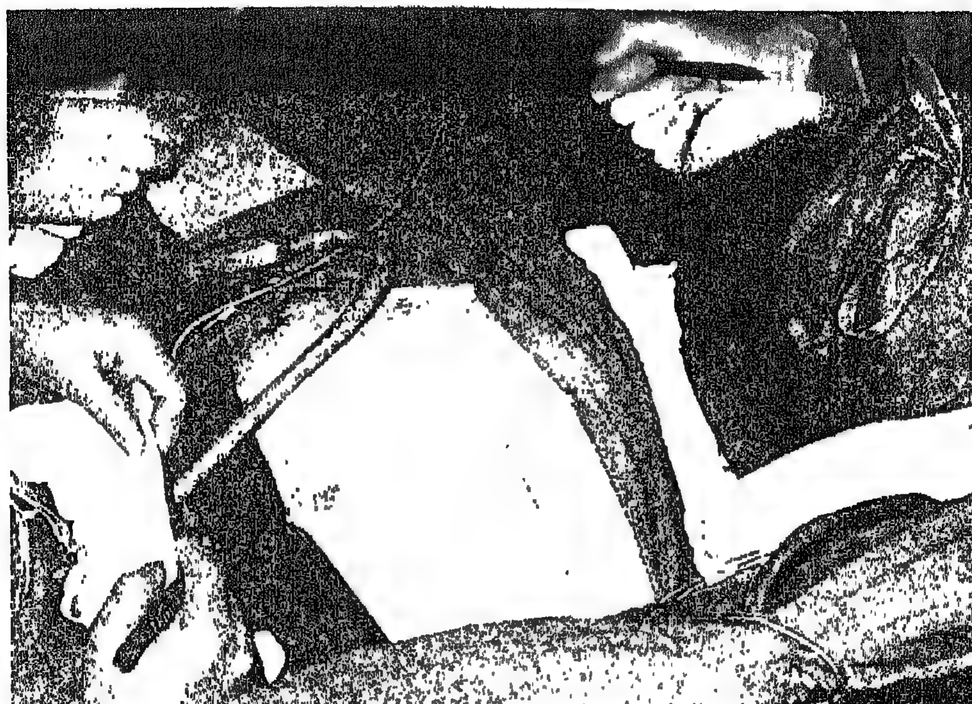
उदर – भानुमति का पिटारा



हैं उसमें। कुछ अंग जठरांत्र प्रणाली के अभिन्न भाग हैं या उससे सीधे जुड़े हैं, जैसे अमाशय, छोटी और बड़ी आँत, जिगर, पित्ताशय एवं पैनक्रियाज। शरीर की रोग बचाव प्रणाली के अंश-तिल्ली एवं लसिका-ग्रंथियाँ, रक्त को साफ करने वाले गुर्दे एवं उनसे जुड़ी मूत्रवाहक नलियाँ-ये सभी उदर में ही तो हैं।

अपरिचित राह पर चलने से जैसे एक ओर तो नई-नई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, किंतु दूसरी ओर ज्ञान का प्याला भी भरता जाता है। ठीक उसी तरह उन दिनों उदरीय शल्यचिकित्सा भी एक चुनौती भरे दौर से गुज़र रही थी। नए-नए अनुभव, नई-नई शल्य तकनीकें-यही उसके प्रगति पथ का सार था।

वियना में सर्जरी के प्राध्यापक बिलरोथ (सन् 1829-1894) एक लंबे समय से जंतु परीक्षणों में जुटे हुए थे। उन्होंने यह साबित कर दिखाया था कि जैसे क्षतिग्रस्त होने पर शरीर के बाहरी अंगों की काट-छाँट की जा सकती है, उसी तरह शरीर के भीतरी अंगों की भी आवश्यकतानुसार काट-छाँट की जा सकती है। एक दिन एक अधेड़ उम्र की महिला रोगी, जिसे अमाशय के निचले भाग में कैंसर होने का शक था, उनके सामने लाई गई। उसकी स्थिति बहुत दयनीय थी। भोजन का एक ग्रास भी अमाशय से नीचे न उतर पाता था। बिलरोथ ने फैसला किया कि वे उसके अमाशय का रोग-ग्रस्त भाग काट कर बाहर निकाल देंगे और फिर अमाशय के ऊपरी भाग को सीधे छोटी आँत से जोड़ देंगे। जनवरी 29, सन् 1881 के दिन उन्होंने यह महत्त्वपूर्ण आपरेशन किया और बीमार स्त्री भली-चंगी हो गई। अब क्या था! उनसे प्रेरणा लेकर अन्य शल्यचिकित्सकों ने भी इस प्रकार का आपरेशन करना शुरू कर दिया। पाया गया कि अमाशय में अल्सर हो जाने से उत्पन्न हुई सिकुड़न के उपचार के लिए भी यह शल्य तकनीक पूरी तरह उपयुक्त थी। बाद में इस शल्य विधि में कुछ संशोधन भी



उदर को खोलते हुए शल्यचिकित्सक

किए गए। रोगग्रस्त भाग को काट कर निकालने की जगह उसे बाय-पास कर देना ही पर्याप्त पाया गया। इसके लिए अमाशय के ऊपरी भाग को छोटी आँत से सीधा जोड़ दिया गया। 1908 में सुविख्यात ब्रिटिश सर्जन लार्ड मॉनिहेन ने पहली बार डयूडनल अल्सर (छोटी आँत के प्रथम भाग में) के बारे में विस्तृत जानकारी दी। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि संशोधित बिलरोथ शल्य तकनीक इसके उपचार के लिए उपयुक्त है। आज भी बिलरोथ शल्यविधि पर आधारित शल्य-तकनीकें, सैकड़ों-हज़ारों

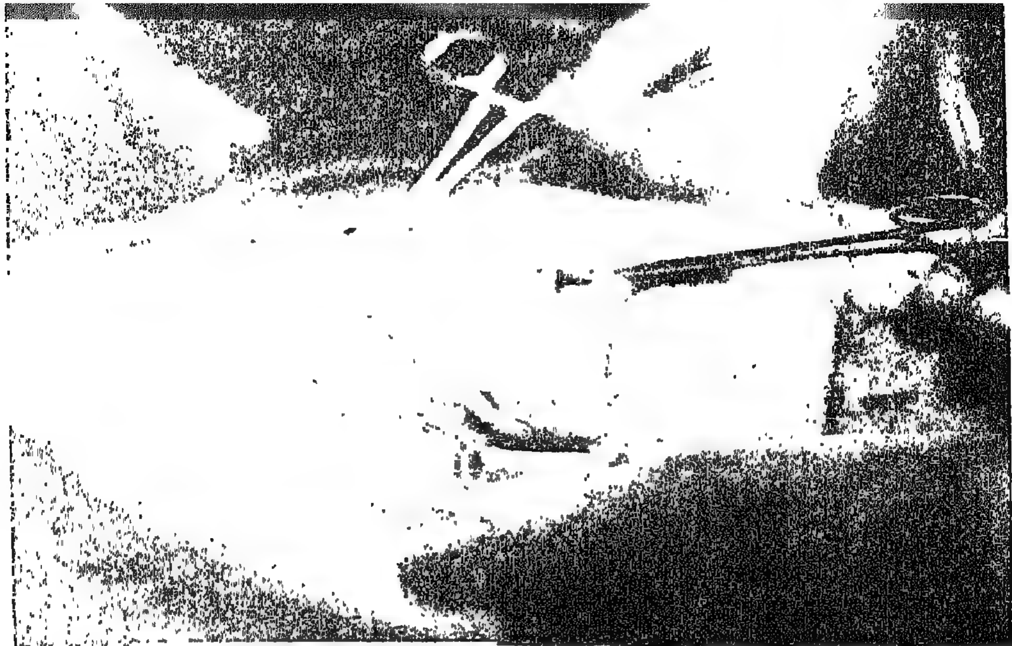
अल्सर के रोगियों के लिए जीवनदायी बनी हुई हैं।

उन्हीं दिनों रोगग्रस्त छोटी और बड़ी आँतों की शल्यचिकित्सा का शुभारंभ हुआ। तब तक ये आपरेशन केवल उन स्थितियों तक सीमित थे, जब किसी व्यक्ति की आँतें दुर्घटनावश अथवा युद्ध के मैदान में फट जाने के कारण बाहर आ जाती थीं। सुश्रुत ने तलवार से कटी हुई आँतों को सिलने का पूरा विवरण दिया है। किंतु उनके बाद केवल इक्के-दुक्के सर्जनों ने ही इस तरह की शल्यचिकित्सा करने का साहस किया। कहते हैं कि एक यूनानी योद्धा ने तो इसी कारण अपने फटे हुए पेट की सिलाई अपनी पत्नी से ही करवा ली थी।

किंतु अब समय बदल चुका था। अब शल्यचिकित्सक ऐसे रोगियों के भी आपरेशन करने लगे, जिनकी आंतों में रोगवश रुकावट उत्पन्न हो जाती थी। इसके लिए रोगग्रस्त भाग को काट कर अलग कर दिया जाता था। और स्वस्थ आँत के दो छोरों को एक दूसरे से जोड़ दिया जाता था। गंभीर रूप से बीमार रोगी इस प्रकार के बड़े आपरेशन नहीं सह सकते थे। अतः उनकी आंत के ऊपरी स्वस्थ भाग को मुँह का आकार दे, उदर के बाहर निकाल देने की शल्यविधि विकसित की गई। बाद में रोगी की हालत सुधर जाने पर आपरेशन के दूसरे चरण में रोगग्रस्त भाग निकाल कर आँत की निरंतरता बहाल कर दी जाती।

इसी दौरान प्रख्यात अमरीकी सर्जन चार्लस मेकबर्नी (सन् 1845-1913) ने **एपेंडिक्स** (बड़ी आंत का उपांग) की सूजन के लक्षणों का विस्तृत ब्यौरा भी प्रस्तुत किया। अब सर्जन इसके उपचार हेतु एपेंडिक्स का शल्य-विच्छेदन करने लगे। युवराज एडवर्ड सप्तम का जब आपरेशन हुआ, तब यह शल्यक्रिया मात्र दो दशक पुरानी ही थी।

सन् 1887 तक शल्यचिकित्सक पित्ताशय की सूजन के बारे में भी जान चुके थे। उन्होंने पाया कि इसका सबसे उपयुक्त उपचार पित्ताशय को काट



त्वचा के साथ ऊपरी ऊतकों को हटा, अब शल्यविशेषज्ञ रोगग्रस्त आँत तक पहुँचने वाले हैं

कर बाहर निकाल देना ही है। बाद में पित्ताशय की पथरी के लिए भी यह शल्य विधि उचित पाई गई।

हर्निया, मूत्राशय की पथरी, अण्डकोश में जलवृद्धि (**हाइड्रोसिल**) और डिंब-ग्रंथियों के आपरेशन पहले से ही होते आए थे। अब उनसे संबंधित शल्य तकनीकें और अधिक विकसित हो गईं।

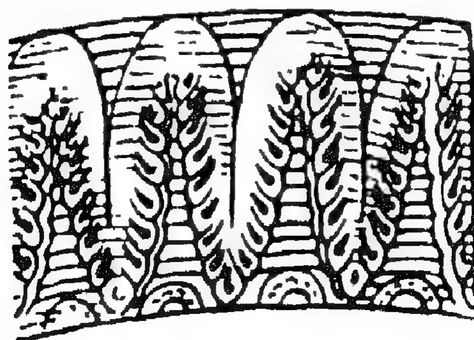
गुर्दों की शल्यचिकित्सा ने भी अब साकार रूप लिया। अब तक केवल इक्के-दुक्के रोगियों में ही गुर्दे की सर्जरी हुई थी। हालत यह थी कि सोलहवीं सदी में फ्रांस में जब एक शल्यचिकित्सक ने गुर्दे से पथरी निकालने की सर्जरी करनी चाही तो उसे एक अपराधी को चुनना पड़ा। उस अपराधी को मृत्युदंड दिया जाने वाला था और वह आपरेशन के लिए इस शर्त पर राजी हुआ था कि आपरेशन सफल रहा तो उसे मुक्त कर दिया जाएगा। अंततः उसका आपरेशन सफल रहा और उसे जीवनदान भी मिल गया।



शल्यविशेषज्ञ एक नव विकसित यंत्र के सहारे उदर का एक आपरेशन कर रहे हैं

किंतु बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। अब सामान्य रोगी भी आपरेशन के नाम से इतना आतंकित नहीं रह गया था। धीरे-धीरे गुर्दों के बहुत से आपरेशन होने लगे। आगे चलकर ट्यूमर, पथरी अथवा अन्य कारणों से प्रभावित गुर्दों की शल्यचिकित्सा करना भी संभव हो गया।

लिस्टेरियन युग के इस प्रारंभिक वर्षों से लेकर अब तक उदरीय शल्य-चिकित्सा कई नए मोड़ों से गुज़री है। हर बार, हर कदम और हर वर्ष वह और अधिक समृद्ध और संपन्न होती चली गई है। एक ओर जहाँ नवीन औषधियों के आगमन से शुरू के कुछ आपरेशन अनावश्यक होते गए हैं, वहीं दूसरी ओर नई समस्याओं को लेकर नई तरह की शल्य-तकनीकें भी विकसित होती रहीं हैं। यह उन शल्यचिकित्सकों की कड़ी साधना और मेहनत का ही परिणाम है कि उदर संबंधी शल्यचिकित्सा सफलता के चरम शिखर को छूने लगी है। आपरेशनों में मृत्यु दर घट कर लगभग नगण्य होती जा रही है और अधिकाधिक आपरेशन पूर्ण रूप से सफल हो रहे हैं।



शाखाएँ – नई, पुरानी

आओ, एक बार फिर कुछ क्षणों के लिए लौट चलते हैं नव पाषाण युग की गुफ़ाओं, सुश्रुत की नगरी बनारस, पिरामिडों के देश मिस्र और हिपोक्रेटिस के द्वीप कॉस की ओर। यहाँ प्राप्त हुए प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सर्जरी की सबसे प्राचीन शाखा होने का गौरव **ऑर्थोपिडिक्स** (अस्थिशल्यचिकित्सा) को ही है।

मनुष्य ने बहुत पहले अनुभव द्वारा फ्रेक्चर जोड़ने की कला सीख ली

दुर्घटना की चपेट में आई टाँग की सर्जरी करते हुए शल्य विशेषज्ञ



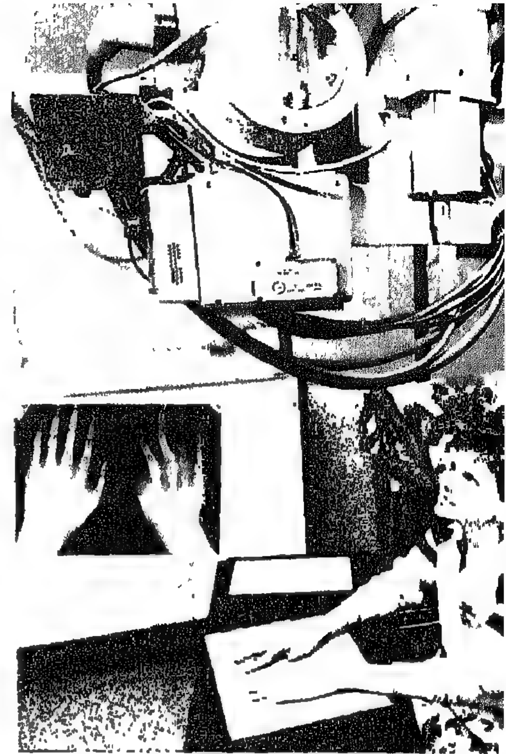


एक रोगी का प्लास्टर चढ़ाते हुए

थी। वह जान गया था कि टूटी हुई हड्डी को जोड़ने के लिए, उस हड्डी के दो टूटे हुए किनारों को साथ मिलाकर यह व्यवस्था करनी होती है कि वे दोनों एक दूसरे से जुड़े रहें और हिले-डुलें नहीं। आज भी यह मूल सिद्धान्त बदला नहीं है। बदले हैं केवल वे तौर-तरीके, जो समय के साथ-साथ और अधिक उन्नत और विश्वसनीय रूप धारण करते आए हैं।

आज अस्थिशल्यचिकित्सक इसी आशय से फ्रेक्चर जोड़ने के लिए टूटी हुई हड्डी के दोनों भागों को यथास्थान लाकर उनके चारों ओर प्लास्टर कर देते हैं। तुमने देखा होगा कि यह प्लास्टर केवल प्रभावित हड्डी तक ही सीमित नहीं होता। उसमें ऊपर और नीचे दोनों तरफ के जोड़ भी बाँध दिए जाते हैं। ऐसा उस हड्डी की सक्रियता पर पूरी तरह रोक लगाने के लिए किया जाता है।

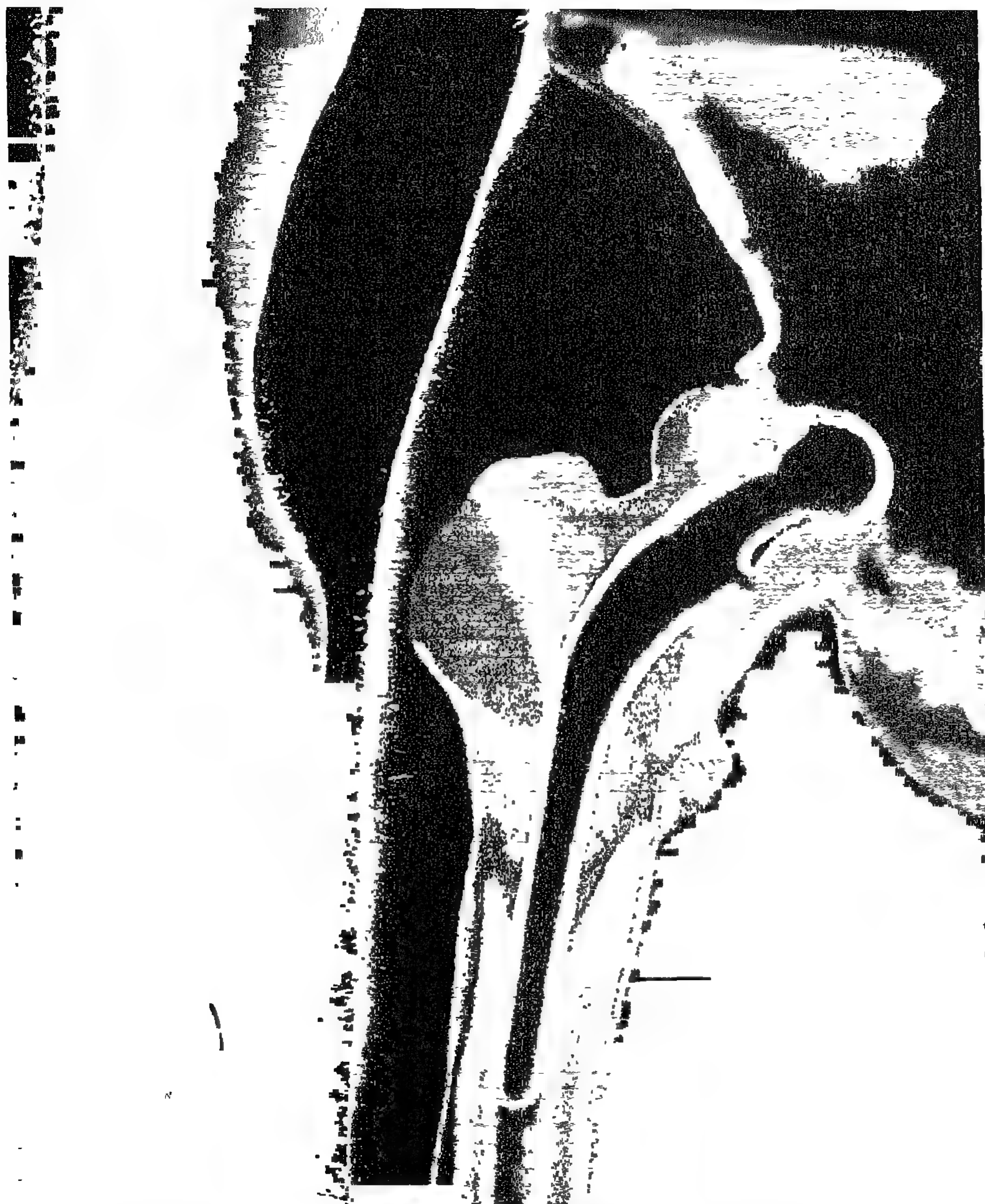
एक शताब्दी पूर्व तक फ्रेक्चर को पहचानने के लिए, शल्यचिकित्सकों को केवल अपने सिद्धहस्त हाथों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। किंतु सन् 1895 में एक्स-रे की महत्त्वपूर्ण खोज होने के बाद से फ्रेक्चर पहचान लेना पहले से कहीं अधिक आसान हो गया। अब छोटे-से-छोटे महीन फ्रेक्चर भी एक्स-रे चित्र द्वारा पहचाने जा सकते हैं। प्लास्टर खुलने के बाद लिए गए एक्स-रे चित्रों द्वारा अब यह जानकारी भी मिल जाती है कि हड्डी पूरी तरह जुड़ी है अथवा नहीं।



एक्स-रे की मदद से सूक्ष्म से सूक्ष्म फ्रेक्चर पहचाने जा सकते हैं

पिछली दो शताब्दियों में उपचार तकनीकों में भी परिवर्तन आए हैं। घुटने की छोटी हड्डी '**पटेला**' के टुकड़े हो जाने पर अब शल्यचिकित्सक उसे पूरी तरह बाहर निकाल देते हैं। ऐसा करने से पाया गया है कि जोड़ की क्रियाक्षमता पर किसी प्रकार का दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। टाँग की ऊपरी हड्डी "फीमर" टूट जाने पर उसे जोड़ने के लिए अब ऑर्थोपिडिक सर्जन भीतर स्टील की एक छड़ भी डाल देते हैं। इससे रोगी लंबे समय तक बिस्तर पर पड़े रहने से बच जाता है। इसी तरह अधिक उम्र के व्यक्तियों की यह हड्डी जब ऊपर (नेक) से टूट जाती है तब प्रायः उसके ऊपरी भाग के स्थान पर स्टील से बना कृत्रिम भाग आरोपित कर दिया जाता है।

फ्रेक्चर और अन्य अस्थि रोगों के साथ-साथ, जोड़ों और मांस-



फीमर के ऊपरी भाग के फ्रेक्चर में अब स्टील से बना कृत्रिम अंश लगाया जा सकता है

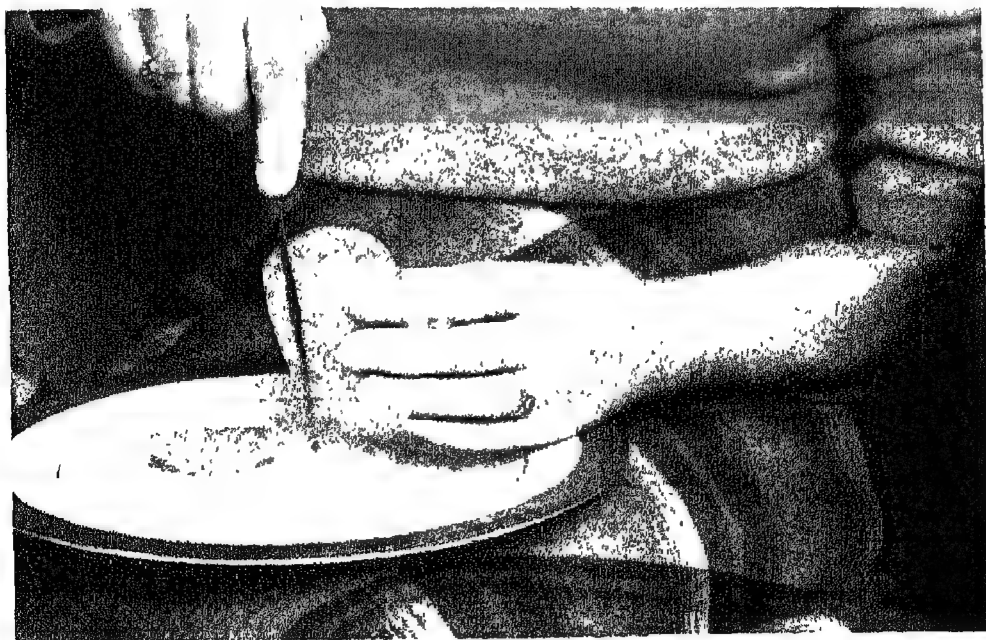
पेशियों से संबंधित रोगों की चिकित्सा का दायित्व भी ऑर्थोपेडिक सर्जन के कंधों पर ही होता है। दुर्घटनावश अगर जोड़ स्थान से हिल जाए तो शल्यचिकित्सक विभिन्न विधियों द्वारा उसे पुनः सामान्य अवस्था में ले आते हैं। रोग, चोट और बढ़ती उम्र के कारण भी जोड़ बेकार हो सकते हैं। ऐसे रोगियों को अब कृत्रिम जोड़ भी लगाए जाने लगे हैं। कई बार खेलते समय अथवा अन्यथा चोट लगने से हड्डी पर कोई असर नहीं होता, लेकिन मांस-पेशियाँ क्षतिग्रस्त हो जाती हैं। ऐसे रोगियों की उन मांस-पेशियों को आराम देने के लिए हल्का प्लास्टर चढ़ा दिया जाता है। मांस-पेशियों की चोट भी बहुत कष्टदायक हो सकती है, अतः इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

हड्डियाँ, जोड़ अथवा मांस-पेशियाँ जन्म से भी विकृत हो सकते हैं। ऑर्थोपेडिक शल्यविशेषज्ञों ने इनमें से बहुत-सी समस्याओं, जैसे नवजात शिशु में पैर टेढ़े होना, कूल्हे का जोड़ असामान्य होना आदि का हल भी आज ढूँढ़ निकाला है।

तरह-तरह के रोगाणु भी अस्थिशल्यविशेषज्ञों के लिए समस्याएँ उत्पन्न करते आए हैं। एक किस्म के वायरस से होने वाला रोग-पोलियो, मांस-पेशियों को कमज़ोर बना देता है। इससे रोगी विकलांग हो जाता है। आज पोलियों से बचाव के लिए एक कारगर टीका उपलब्ध है, किंतु अब भी हर वर्ष बहुत से बच्चे इस रोग के शिकार हो जाते हैं। ऐसे रोगियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अब शल्यचिकित्सकों ने एक नई शल्य-तकनीक खोज निकाली है। इसमें सर्जन बाकी बची स्वस्थ मांस-पेशियों में ऐसा फेर-बदल कर देते हैं, जिससे कि ये मांस-पेशियाँ बेकार हुई मांस-पेशियों का काम अपने ऊपर ले लेती हैं। हड्डियों और जोड़ों की तपेदिक अथवा अन्य रोगाणुओं के कारण उनमें पड़ जाने वाले मवाद का उपचार भी अब विशेषज्ञों के पास उपलब्ध है। इसी तरह गठिया रोग के

लिए भी तरह-तरह की औषधियाँ एवं शल्यविधियाँ विकसित की जा चुकी हैं।

दुर्घटनाओं में कट गए पैर, टाँग, हाथ, बाँह के स्थान पर अब कृत्रिम अंग भी लगाए जा सकते हैं। ये कृत्रिम अंग इतने अधिक उन्नत हैं कि इनके लगने के बाद कोई देखने वाला यह भी नहीं पहचान पाता कि कौन-सा अंग असली है और कौन-सा बनावटी।



बनावटी हाथ – कहाँ है फर्क

नेत्रशल्यचिकित्सा की बुनियाद भी बहुत पुरानी है। जहाँ हमारे देश में इसका शुभारंभ वैदिक काल में ही हो गया था, वहीं अन्य प्राचीन सभ्यताओं में भी नेत्र-शल्यचिकित्सा को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। बेबीलोनिया के बादशाह हामूराबी ने तो यहाँ तक निश्चित कर दिया था कि सफल आपरेशन होने पर रोगी दस मोहरें फीस के रूप में चिकित्सक को अदा करेगा। किंतु दुर्भाग्यवश आपरेशन के बाद यदि रोगी अंधा हो जाता, तो चिकित्सक को इसकी भारी कीमत अदा करनी पड़ती। उसके दोनों हाथ काट दिए जाते।

प्राचीनकाल में मुख्य रूप से मोतियाबिंद के आपरेशन ही किए जाते थे। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में पहली बार आँख की संरचना के बारे में वैज्ञानिक जानकारी मिली। तब जाकर कहीं नेत्र सर्जरी की कारगर ढंग से शुरुआत हो सकी।

देखने का क्रम अनेक प्रक्रियाओं के मेल से संभव हो पाता है। किसी बाहरी वस्तु से प्रकाश किरणें सर्वप्रथम आँख की पुतली के रास्ते भीतर प्रवेश करती हैं। इसके बाद आँख के भीतर स्थित लैंस इन किरणों को दृष्टि-पटल (रेटिना) पर केन्द्रित करता है। रेटिना एक फैली हुई तंत्रिका के समान है। उसमें रासायनिक हलचलें होनी हैं। इससे एक विशेष तंत्रिका संदेश ग्रहण कर, उस संदेश को मस्तिष्क के खास दृष्टि-संबंधी-क्षेत्र में पहुँचाती है तब वहाँ उस वस्तु की आकृति उभर आती है।

अब कल्पना करो कि यदि इस लंबे रास्ते में कहीं कोई रुकावट आ जाए, तब क्या होगा? यही न कि दृष्टि पर सीधा असर पड़ेगा।

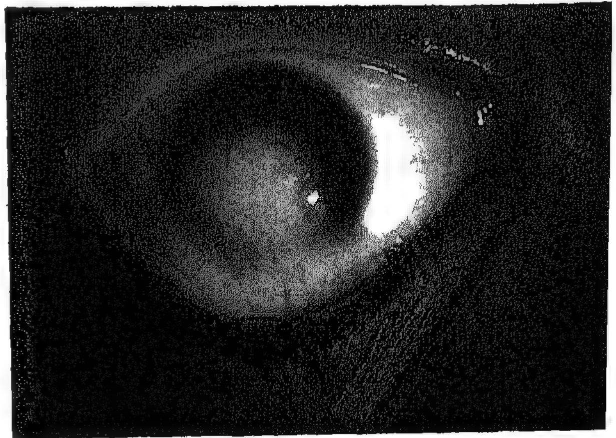
लैंस की पारदर्शिता खो जाने को ही मोतियाबिंद कहा जाता है। प्रचीनकाल में लैंस को पुनः पारदर्शी बनाने के लिए उसे सुई द्वारा दागा जाता था। किंतु अब नेत्रशल्यविशेषज्ञ बेकार हुए लैंस को आपरेशन द्वारा आसानी से बाहर निकाल देते हैं। फिर लैंस की भूमिका निभाता है, बाहर



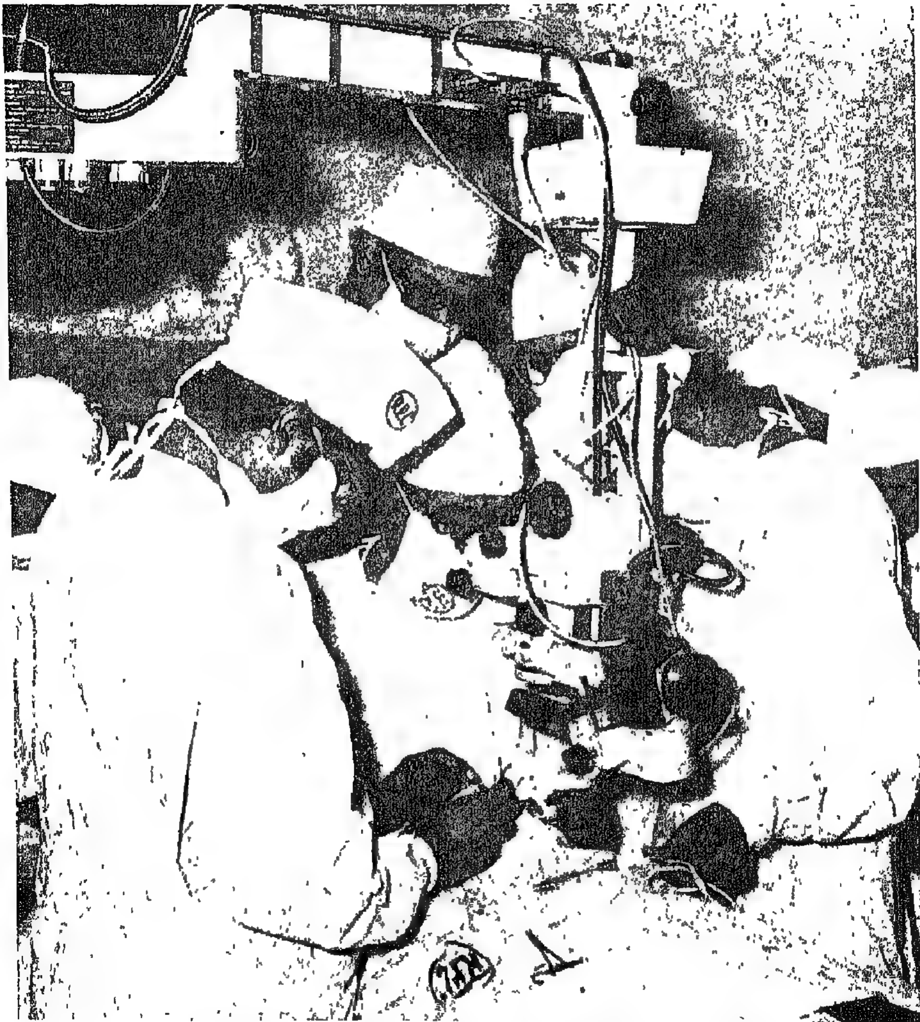
लगा मोटा चश्मा। किंतु कुछ रोगियों के लिए यह विधि उपयुक्त नहीं रहती। उनमें विशेषज्ञ अब बेकार हुए लैंस के स्थान पर आँख के भीतर ही प्लास्टिक से बना लैंस लगा देते हैं।

कई बार नेत्रों में **फूली** पड़ जाने के कारण भी रोगी दृष्टिविहीन हो जाते हैं। आँख की पुतली के ठीक सामने पाई जाने वाली झिल्ली (कार्निया) की पारदर्शिता के नष्ट होने पर ही यह दोष उत्पन्न होता है। आहार में विटामिन "ए" की कमी, रोहे एवं चोट, कार्निया के विनाश के मुख्य कारण हैं। किन्नु नेत्रशल्यविशेषज्ञों ने इस समस्या का समाधान भी ढूँढ़ निकाला है। इसके लिए वे नेत्रदान में प्राप्त स्वस्थ कार्निया को रोगी कार्निया के स्थान पर लगा देते हैं।

भैंगापन, काला मोतिया, रेटिना के बहुत से रोगों एवं अन्य नेत्र विकारों का भी उपचार नेत्रशल्यचिकित्सकों ने ढूँढ़ लिया है। लेसर चाकू और माइक्रोसर्जरी जैसी नई शल्य-विधियाँ इसमें उनकी मददगार बन रही हैं।

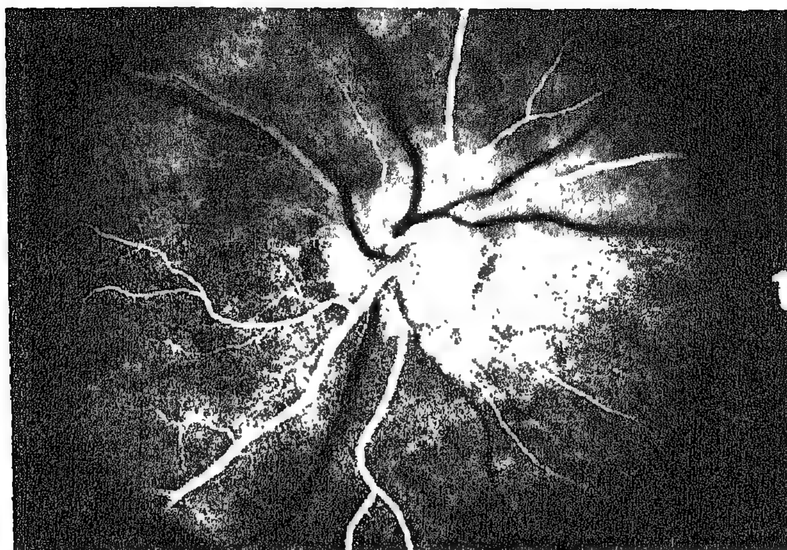


आँख में फूली पड़ जाना, दृष्टिविहीनता का एक बड़ा कारण है



नेत्र सर्जरी करते हुए शल्यविशेषज्ञों का एक दल

इस दिशा में भी प्रयास जारी हैं कि ऐसे दृष्टिविहीन व्यक्तियों के लिए जिनकी रेटिना ही बेकार हो गई हो, इलैक्ट्रानिक आँख तैयार की जाए।



रेटिना की रक्त-वाहिकाएँ

लेसर किरणों द्वारा रेटिना के एक रोग का उपचार



कान पर लोहे की लंबी, पतली-सी सलाई टांगे, हाथ में एक छोटी-सी संदुकची लिए, सिर पर टोपी लगाए गली-गली फेरी लगाकर कान, नाक के रोगों का इलाज करने वाले उस्तादों को तुमने अवश्य ही देखा होगा। उन्नीसवीं सदी के अंत तक अधिकतर देशों में कान, नाक की चिकित्सा इन्हीं नीम-हकीमों के हाथों में थी। इनके उपचार के तरीके बाबा आदम के ज़माने के थे। वैज्ञानिक सिद्धांतों से इनका कुछ लेना-देना न था। अतः कई बार इनके द्वारा किया गया उपचार रोगी के लिए बहुत ही महँगा पड़ता था। कान में तेल डालने से मैल फूल जाता और रोगी का सुनना और अधिक दूभर हो जाता। कान में सलाई जाती और उसके साथ ही रोगाणु कण भीतर दाखिल हो जाते। इससे कुछ रोगी तो हमेशा-हमेशा के लिए बहरे हो जाते।

इन परिस्थितियों में, इसी शताब्दी के प्रारंभ में नाक, कान, गले की शल्यचिकित्सा का एक विशेष शल्य शाखा के रूप में विकास हुआ। इन अंगों की रचना के बारे में अब तक जानकारी मिल ही चुकी थी, अब शोध-चिकित्सक इनमें होने वाले तरह-तरह के विकारों और रोगवश उत्पन्न हुए दोषों को पहचानने में एक जुट होकर लग गए। एक के बाद एक, तरह-तरह के रोगों के रहस्य उनके सम्मुख स्पष्ट होते गए और वे उनका समाधान भी ढूँढ़ते चले गए।

झरनों की कल-कल, समुद्र तट पर उफनती हुई लहरों के थपेड़े, बादलों की गरजन, पक्षियों की चिहूंक-चिहूंक, रेलगाड़ी की छुक-छुक, घुंघरुओं की रुन-झुन, गले से निकले संगीत के मधुर स्वर — इन सब को सुनने के लिए कानों का स्वस्थ होना ज़रुरी है।

हमारा कान रचना की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जा सकता है। बाहरी कान चारों ओर की ध्वनि तरंगों को ग्रहण कर, अपनी छोटी-सी सुरंग के रास्ते उन्हें मध्य कान तक पहुँचाता है। मध्य कान के द्वार पर होता है कान का पर्दा। यह ध्वनि तरंगों को ग्रहण कर काँपने लगता है। इस

कंपन को आगे ग्रहण करती हैं एक दूसरे से सटी मध्य कान की तीन छोटी-छोटी हड्डियाँ। इसमें से आखिरी हड्डी आंतरिक कान के संपर्क में रहती है। आंतरिक कान एक जटिल अंग हैं। बस समझ लो कि इसमें एक तरह का द्रव होता है। इसमें मध्य कान से आई कंपन दाब उत्पन्न करती है। यह दाब श्रवण संबंधी तंत्रिका को उत्तेजित करता है। यह तंत्रिका इस संदेश को मस्तिष्क तक पहुँचाती है, जहाँ वह संदेश एक बार फिर मधुर ध्वनि में परिवर्तित हो जाता है।

इस लंबे रास्ते में कहीं भी विघ्न आ जाए तो श्रवण-शक्ति क्षीण हो जाती है।

बाहरी कान में मैल इकट्ठा हो जाना एक आम समस्या है। ऐसे में कान में दर्द होने लगता है और सुनने में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। इसके लिए विशेषज्ञों ने ऐसी दवाएँ विकसित कीं, जिनसे मैल घुल कर बाहर आ

रोगी के कान की जांच करते हुए ई.एन.टी. विशेषज्ञ



जाता है। इसके अलावा, आवश्यकता पड़ने पर वे रोगाणु-रहित (स्टरलाइज़्ड) शल्य औज़ारों से भी इसे बाहर निकाल देते हैं। इसी तरह बाहरी कान की सुरंग में फुंसी अथवा फफूंदी उग जाने के कारण भी रुकावट उत्पन्न हो सकती है। इन समस्याओं का भी उचित उपचार संभव है।

मध्य कान में सबसे बड़ी समस्या है रोगाणुओं का आक्रमण। इससे वहाँ मवाद इकट्ठा होने लगता है। उचित उपचार न होने पर यह कान के पर्दे में सुराख कर देता है और बाहर बहने लगता है। साथ ही, ऐसा होने पर मध्य कान की छोटी हड्डियाँ भी नष्ट होने लगती हैं। इससे रोगी की श्रवण शक्ति पर गंभीर असर पड़ सकता है। किंतु अब शल्यविशेषज्ञ इन सभी समस्याओं से निपट सकते हैं। जैसे ही कान बहने लगे, उपचार के लिए चिकित्सक से सलाह लेनी चाहिए। शल्यविशेषज्ञों ने नष्ट हुए पर्दे के स्थान पर नया पर्दा लगाने की तकनीक भी विकसित कर ली है। एक छोटे-से आपरेशन द्वारा, वे बाहरी कान के ऊपरी भाग से ली गई त्वचा की भीतरी सतह के अंश को लेकर, नए पर्दे की रचना कर लेते हैं। मध्य कान की नष्ट हुई हड्डियाँ भी इसी तरह अब बदली जा सकती हैं। ऐसी शल्य तकनीकें विकसित कर ली गई हैं, जिनमें किसी मृतक के कान से ली गई हड्डियाँ अथवा कृत्रिम मानव-निर्मित हड्डियाँ, नष्ट हुई हड्डियों के स्थान पर लगा दी जाती हैं।

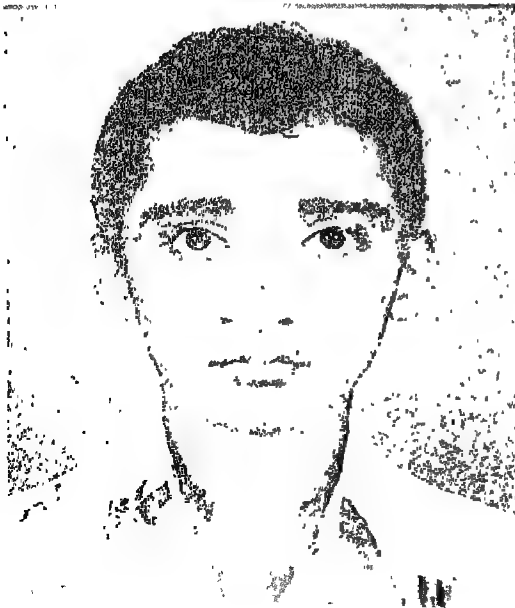
आंतरिक कान अथवा श्रवण-तंत्रिका के कुछ विकारों के कारण उत्पन्न बधिरता के समाधान के लिए आजकल प्रयोगशालाओं में इलैक्ट्रानिक कान पर भी अनुसंधान चल रहा है।

नाक हमारे चेहरे का अभिन्न अंग है। उसमें ही हमारी घ्राण (गंध) शक्ति निहित है। साथ ही, वह वातावरण से ली गई हवा को स्वच्छ बनाती है। उसके तापमान एवं नमी को नियंत्रित करती है। इसके लिए चेहरे की हड्डियों में कुछ छोटे-बड़े हवा कूप होते हैं, जो नाक से सीधे जुड़े होते हैं।

शल्यविशेषज्ञों ने नाक के रहस्यों का भी बारीकी से अध्ययन किया। वे जान गए हैं नाक की एक बड़ी समस्या है – हवा-कूपों में रोगाणुओं का घर कर लेना। इसे ही **'साइनोसाइटिस'** कहते हैं। इसमें रोगी को प्रायः सिर दर्द की शिकायत रहती है। और उसकी नाक से मवाद गिरता रहता है। शल्यचिकित्सकों ने पाया कि इसके लिए प्रभावित हवा-कूप की सफाई करने से रोग दूर किया जा सकता है। आज ऐसी बहुत-सी शल्यविधियाँ उपलब्ध हैं, जिनसे इन हवा कूपों की भीतरी सफाई की जाती है।

नाक को दो छिद्रों में विभाजित करने का कार्य, दीवारनुमा **सेप्टम** करता है। कोमल-अस्थि (**कार्टिलेज**) एवं छोटी-छोटी हड्डियों से बना यह सेप्टम जन्म से ही अथवा बाद में चोट लगने से टेढ़ा हो सकता है। इससे नाक का वह छिद्र बंद हो जाता है और रोगी को बहुत-सी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। किंतु अब शल्यविशेषज्ञ टेढ़े सेप्टम को एक आपरेशन द्वारा अंदर से ही सीधा कर सकते हैं।

नाक की टेढ़ी सेप्टम







रोगी के गले की जाँच करते हुए एक ई.एन.टी. विशेषज्ञ

दुर्घटनावश अथवा अन्य कारणों, जैसे लड़ाई-झगड़े में टूटी, कट गई नाक को पुनः सामान्य रूप प्रदान करने के लिए भी तरह-तरह की शल्य-विधियाँ विकसित की जा चुकी हैं।

नाक और कान का शरीर के जिस अंग से बहुत करीबी रिश्ता है, वह है गला। गले में ही कुछ लसिका-ग्रंथियाँ भी होती हैं, जो शरीर की रोगाणुओं से रक्षा करती हैं।

किंतु ये रक्षक ग्रंथियाँ कभी-कभी स्वयं ही रोग का कारण बन जाती हैं। वे फूल कर इतनी बड़ी हो जाती हैं कि गले में रुकावट उत्पन्न कर देती हैं। दवाओं से ठीक न होने पर, शल्यविशेषज्ञों को इसका आपरेशन करना पड़ता है।

स्वर-यंत्र के रोगों की चिकित्सा का दायित्व भी **ई०एन०टी०** शल्य विशेषज्ञ ही निभाते हैं।

तुम जानना चाहोगे कि इस शल्य-शाखा को ई.एन.टी. चिकित्सा क्यों कहते हैं? ई० से बनता है **इयर** याने कान, एन० से **नोज़** या नाक और टी० से बनता है **थ्रोट** अथवा गला, तीनों को एक साथ मिला दो तो बनेगा.... ।

काया श्रृंगार : नए आयाम की तलाश

वर्ष 1792। भारत में अंग्रेज़ी राज्य की जड़ें जम चुकी थीं। किंतु दक्षिण के कुछ हिस्सों में अब भी टीपू सुल्तान का आधिपत्य था। अंग्रेज़ों और टीपू के बीच तीसरा मैसूर युद्ध हाल में ही एक संधि द्वारा समाप्त हुआ था। इसके कुछ दिन बाद की ही घटना है। अंग्रेज़ सेना की खिदमत करने वाला एक कोचवान कवासजी चार भारतीय मूल के सैनिकों के साथ टीपू सुल्तान के सैनिकों के हाथ लग गया। जब उन्हें दरबार में पेश किया गया तो सुल्तान ने आदेश दिया-- "इन गद्दारों के नाक-मूंछ उड़ा दो।"

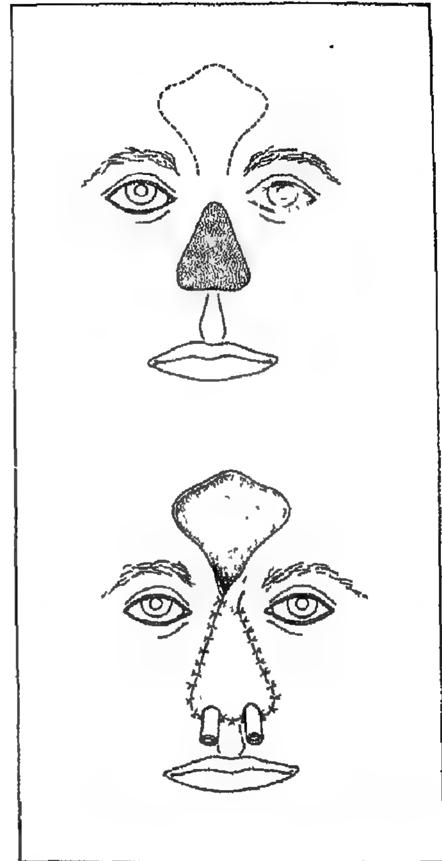
सुल्तान की आज्ञा का पालन हुआ और वे पाँचों चीखते-चिल्लाते अंग्रेज़ों की शरण में वापस लौट आए। किंतु एक साल बाद ही सबने देखा कि उन्हें फिर साबुत नाक मिल गई थी। पुणे के पास के एक वैद्य ने दो अंग्रेज़ चिकित्सकों के सामने प्लास्टिक शल्य क्रिया द्वारा यह चमत्कार कर दिखाया था।

प्लास्टिक शल्यचिकित्सा का जन्म भारत में हुआ था। यह कह पाना तो संभव नहीं कि इसका जनक कौन रहा होगा, किंतु आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व रचे गए ग्रंथ-सुश्रुत-संहिता में इसका पहला लिखित वर्णन मिलता है। संभवतः सुश्रुत ही वह पहले चिकित्सक थे, जिन्होंने तरह-तरह की शल्य क्रियाएं विकसित कीं, जिनसे शरीर के क्षतिग्रस्त अंगों

को फिर से नैसर्गिक रूप दिया जा सकता था।

सुश्रुत-संहिता के प्रथम भाग "सूत्रस्थान" के सोलहवें अध्याय "कर्णव्यबन्धन विधि" में प्लास्टिक शल्य क्रियाओं का विस्तृत विवरण मिलता है। सर्वप्रथम कान छेदने की विधि एवं कटे हुए कान को जोड़ने की शल्य क्रिया के बारे में बताया गया है। इसके लिए सुश्रुत ने गाल या कनपटी से जीवित माँस लेने का सुझाव दिया है।

प्राचीनकाल में बहुत से देशों में यह परंपरा थी कि अपराधी को दण्ड दिए जाने पर उसकी नाक काट दी जाती थी। ऐसा ही उल्लेख रावण की बहन शूर्पणखा को लेकर रामायण में भी आता है। आपसी लड़ाई-झगड़ों में भी लोग एक-दूसरे की नाक काट लिया करते थे।



सुश्रुत ऐसे बनाते थे नई नाक

ऐसे नाक-विहीन व्यक्तियों को फिर से समाज में सम्मान देने के लिए सुश्रुत ने एक महत्त्वपूर्ण शल्य क्रिया का वर्णन किया है। उनका कहना है कि इसके लिए सबसे पहले उस व्यक्ति के चेहरे को देखकर नाक का नक्शा पेड़

के एक पत्ते पर बना लेना चाहिए। फिर उसके अनुसार ही माथे की त्वचा इस प्रकार काटकर उठानी चाहिए कि उसका अंश माथे से जुड़ा रहे। उसके बाद नई नाक को आकार देना चाहिए। नासिका के छिद्र बने रहें, इसके लिए एरण्ड नाल जैसे कोमल नाल नव निर्मित छिद्रों में डाल देने चाहिए। जब यह नई नाक अपनी जगह पूरी तरह जम जाए, तब माथे से उसका संबंध विच्छेद कर देना चाहिए।

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सुश्रुत त्वचा आरोपण के मूल सिद्धांतों से पूरी तरह परिचित थे। माथे से ली गई त्वचा का कुछ अंश शुरू में उससे जोड़े रखना इसलिए अनिवार्य होता है कि त्वचा का रक्त-प्रवाह टूटे नहीं। वरना त्वचा जीवित नहीं रह सकती।

सुश्रुत की नाक-प्रत्यारोपण की यह तकनीक आज भी जीवित है। उन्होंने कटे हुए ओठों को जोड़ने की शल्य विधि के बारे में भी विस्तृत रूप से चर्चा की है।

चिकित्सा विज्ञान के इतिहासकार एक मत हैं कि प्लास्टिक शल्य-क्रिया की ये विधियाँ भारत से ही सात समुद्र पार कर यूरोपिय देशों में पहुँची।

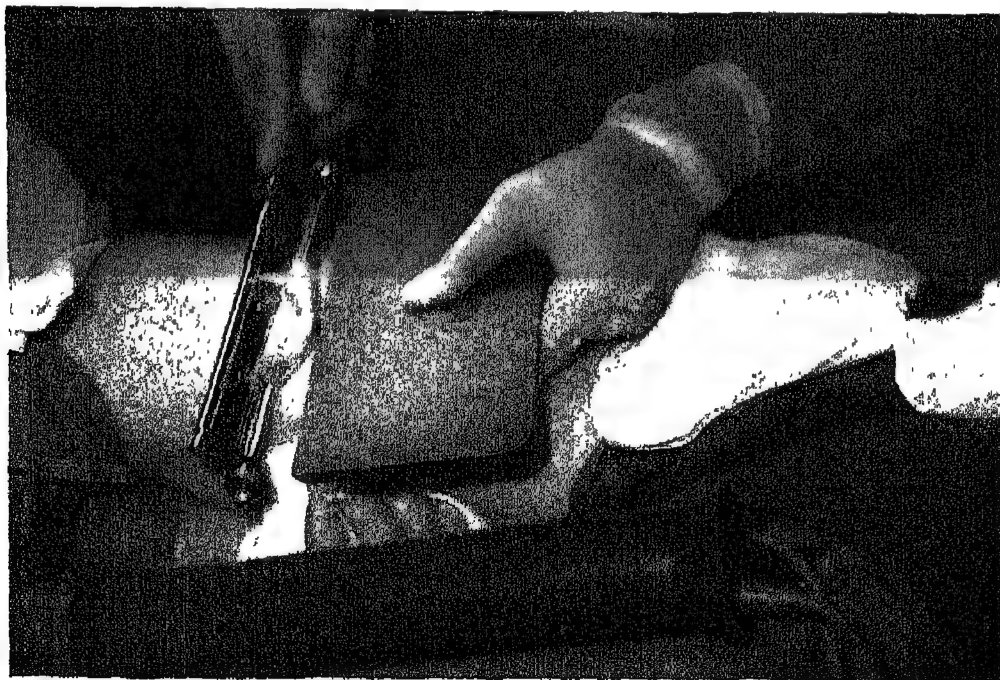
सोलहवीं सदी के इटली के बोलोना विश्वविद्यालय के प्राध्यापक जास्पारो ताग्लियाकोजी (सन् 1546-99) ने नई नाक लगाने वाले सर्जन के रूप में खूब ख्याति अर्जित की। उन्होंने सुश्रुत की शल्य-विधि में कुछ, परिवर्तन भी किए। माथे से त्वचा न लेकर, बाँह से त्वचा लेते हुए नई नाक बनाने का प्रयास सम्भवतः पहली बार उन्होंने ही किया। सन् 1597 में प्रकाशित हुआ उनका ग्रंथ प्लास्टिक सर्जरी का पहला मौलिक ग्रंथ माना जाता है।

किंतु उनके बाद मध्यकालीन यूरोप में सामाजिक कुरीतियां और धार्मिक अंध-विश्वासों के कारण प्लास्टिक सर्जरी मानो विलुप्त-सी हो

गई। फिर इसके पुर्नजागरण की प्रेरणा भारत से ही प्राप्त हुई। कवासजी और उसके साथियों को नई नाक मिलने की शल्य क्रिया का पूर्ण ब्यौरा लंदन की पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ। इससे कुछ अंग्रेज़ शल्य-चिकित्सकों को बड़ी प्रेरणा मिली।

सन् 1914 से 1918 के बीच हुए प्रथम विश्वयुद्ध में दोनों ही तरफ के अनेक सैनिक वीरगति को प्राप्त हुए। किंतु इससे भी अधिक हताहत हुए। किसी का जबड़ा, किसी का हाथ, किसी का पैर तो किसी के शरीर का कोई अन्य अंग अस्त्र-शस्त्रों का शिकार बन गया। बहुत से योद्धाओं की काया जल जाने के कारण सिकुड़ कर वीभत्स हो गई। सर्जनों के सम्मुख तरह-

आरोपण के लिए त्वचा के ग्राफ्ट की तैयारी





प्लास्टिक सर्जरी करते हुए शल्यविशेषज्ञ

तरह की नई चुनौतियां आ खड़ी हुईं। पर उन्होंने उनका हल ढूँढ़ निकाला। पसली अथवा कूल्हे की हड्डी के अंश लेकर, उनसे उन्होंने उन सैनिकों को नए जबड़े दिए। त्वचा आरोपण द्वारा जली सिकुड़ी हुई त्वचा को बदल कर प्रभावित अंगों को नया रूप दिया। आवश्यकतानुसार नई शल्य-तकनीकें भी विकसित की गईं।

कैसी विडंबना थी ! विनाश की राख आधुनिक प्लास्टिक सर्जरी के लिए उर्वरक बन गई।

आज प्लास्टिक सर्जरी दो भागों में बँट गई है।

प्रथम वह जिसे '**रीकंस्ट्रक्टिव**' सर्जरी या पुर्नरचना शल्यचिकित्सा

कहते हैं। इसका कार्य क्षेत्र मुख्य रूप से शरीर के क्षतिग्रस्त अंगों को पुनः रचकर सामान्य रूप प्रदान करना है। शरीर के जले, कटे भाग, दुर्घटनाओं के शिकार हुए अंग, कैंसर को जड़ से निकालने की शल्यचिकित्सा के बाद उत्पन्न हुई अपूर्ति, एवं जन्मजात विकार जैसे कि जन्म से अपूर्ण तालु व ओठ, जुड़ी हुई अंगुलियों, अंगों का अभाव-ऐसी अनेकों विपरीत परिस्थितियों का समाधान शल्यचिकित्सा की इसी शाखा के अंर्तगत किया जाता है। आज शल्यचिकित्सक **माइक्रो-वेस्कूयलर** सर्जरी (सूक्ष्म रक्त वाहिकाओं को जोड़ने की शल्य तकनीक) के माध्यम से दुर्घटनाओं में कट गए अंगों को पुनः यथास्थान जोड़ सकते हैं। यह सर्जरी का ही करिश्मा है कि बहुत से व्यक्तियों के बुझे जीवन में यह एक नया सवेरा ले आता है।

जन्म से ही इस शिशु के होठ तथा तालु दोषपूर्ण थे





प्लास्टिक सर्जरी का चमत्कार—वह दोष अब न रहा

प्लास्टिक सर्जरी का दूसरा अंग है – सौन्दर्यवर्धक सर्जरी। इसका सीधा संबंध मानव आकृति से है। एक सफल मूर्तिकार की तरह प्लास्टिक सर्जन भी अब चेहरे और शारीरिक आकृति को तराशने में लगे हैं। लेकिन दोनों के बीच एक बड़ा भारी फर्क है – एक पत्थरों को तराशता है तो दूसरा जीवित मानव काया को।

चेहरों के नयन-नक्श जैसे कि नाक, ओठ आदि असामान्य रूप से भद्दे दिखते हों तो उन्हें संवारना, चेहरे पर उम्र के साथ पड़ जाने वाली झुर्रियों को दूर कर फिर युवा बना देना, गंजेपन से छुटकारा दिलाने के लिए केश प्रत्यारोपण करना – ऐसे अनेकों रूप सज्जा के आपरेशन आज **'कास्मेटिक'** प्लास्टिक सर्जरी के अंतर्गत संभव है।

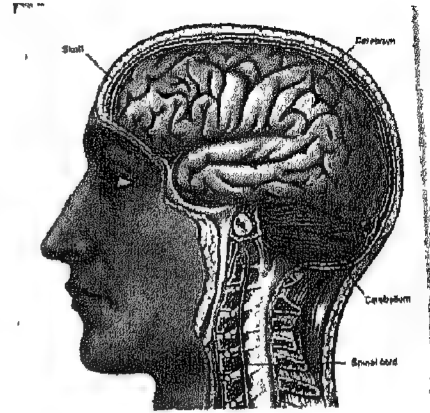
न्यूरोसर्जरी – अद्भुत सफलता की एक कहानी

25 नवम्बर, सन् 1884। लंदन के एक अस्पताल में आज शल्यचिकित्सा की एक नई शाखा का उदय हुआ। एक लंबे जटिल आपरेशन द्वारा सर्जन रिकमेन गोडली ने पहली बार किसी मस्तिष्क ट्यूमर के रोगी का ट्यूमर जड़ से काट कर बाहर निकाला। जीते-जागते, प्रकृति के सर्वाधिक जटिल तथा चमत्कारी जैव कंप्यूटर – मानव मस्तिष्क – से आधुनिक शल्य-चिकित्सा का यह प्रथम आलिंगन था, जो आनेवाले वर्षों में एक मधुर संबंध में परिवर्तित हो गया। इससे ही उत्पन्न हुई वह शल्य शाखा, जिसे न्यूरोसर्जरी का नाम मिला।

आज न्यूरोशल्यविशेषज्ञ मस्तिष्क के साथ-साथ मेरू रज्जु (**स्पाइनल कॉर्ड**) और तंत्रिकाओं के बहुत से जटिल रोगों का उपचार करने में सक्षम हो गए हैं। किंतु उन्नीसवीं सदी के मध्य तक तंत्रिकातंत्र (**नर्वस सिस्टम**) रहस्य के अथाह समुद्र में डूबा हुआ था। उसकी जटिलताओं से अब तक चिकित्सक परिचित न हो पाए थे। उन दिनों कुछ शोध-चिकित्सकों ने यह बीड़ा उठाया कि वे मस्तिष्क की बारीकियों को पहचानेंगे। जंतु-परीक्षणों एवं रोगियों के अध्ययन से एक-एक कर अब मस्तिष्क के रहस्य खुलते चले गए। चिकित्सकों ने यह जान लिया कि शरीर के हर भाग का नियंत्रण मस्तिष्क के किसी-न-किसी विशेष भाग में निहित है। इस महत्त्वपूर्ण

जानकारी का दूरगामी प्रभाव पड़ा। रोगी के लक्षण परख कर अब चिकित्सक यह अनुमान लगा सकते थे कि रोगी के मस्तिष्क के कौन-से क्षेत्र में रोग केंद्रित हैं। इसके बाद ही उनका शल्योपचार संभव हो पाया।

9 जून, सन् 1887 के दिन मेरू रज्जु पर पहला सफल आपरेशन किया गया। क्वीन स्केयर, लंदन स्थित "नेशनल हास्पिटल फॉर दॅ पेरालाइसिड एंड ऐपिलेपटिक्स" के न्यूरोसर्जरी प्रमुख विक्टर हार्सले ने एक अंग्रेज अफसर का मेरू रज्जु का ट्यूमर आपरेशन द्वारा बाहर निकाला। वह अंग्रेज़ अफसर तीन साल से भयंकर दर्द से पीड़ित था। उसकी दोनों टांगें बेकार हो चली थीं और संवेदन क्षमता पर भी असर हो रहा था। आपरेशन के एक साल बाद वह पूरी तरह भला-चंगा हो गया।



मेरू रज्जु और तंत्रिका तंत्र

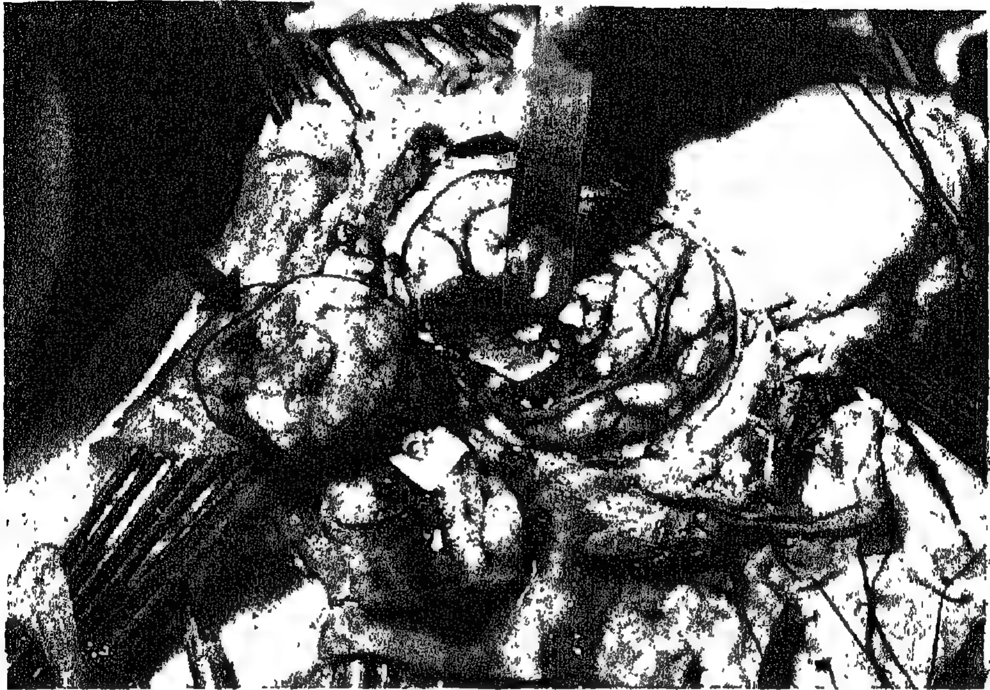
न्यूरोसर्जरी में प्रगति होती चली गई। अब तक मस्तिष्क तक पहुँचने के लिए खोपड़ी का एक गोलाकार भाग काट कर निकाल दिया जाता था। किंतु एक जर्मन शल्यविशेषज्ञ ने एक सरल किंतु महत्त्वपूर्ण सुझाव दिया। खोपड़ी का काटा गया गोलाकार भाग एक किनारे से खोपड़ी से जुड़े रहने पर, मस्तिष्क की शल्य-क्रिया पूरी होने के बाद वापस जोड़ा जा सकता है। इससे आपरेशन के बाद रोगी का मस्तिष्क उसी तरह सुरक्षित रह पाएगा जैसा कि प्रकृति ने उसे निर्मित किया था। न्यूरोसर्जरी में यह एक प्रगतिशील कदम था और कुछ ही समय में यह हर कहीं अपनाया जाने लगा।

इधर अमेरिका में भी न्यूरोसर्जरी विकसित होती चली गई। सर्जन हार्वे कुशिंग ने अकेले ही मस्तिष्क के दो हज़ार से अधिक आपरेशन किए। न्यूरोसर्जरी के विस्तार में उनका योगदान अद्वितीय था। कैसे-कैसे मस्तिष्क के रोग, रोगी को दृष्टिविहीन बना सकते हैं, उसके शरीर के विभिन्न भागों को कमज़ोर कर सकते हैं, सिर दर्द भी उत्पन्न कर सकते हैं आदि महत्त्वपूर्ण जानकारी उन्होंने प्रस्तुत की। मस्तिष्क में पाई जाने वाली 'पीयूष-ग्रंथि' के कुछ महत्त्वपूर्ण रोगों के रहस्य भी उन्होंने पहली बार प्रकट किए।

एक्स-रे की खोज न्यूरोसर्जरी के लिए एक वरदान सिद्ध हुई। मस्तिष्क के कूप में स्वच्छ हवा इंजेक्ट कर, अब मस्तिष्क के कुछ हिस्सों के चित्र बिना मस्तिष्क खोले ही प्राप्त किए जा सकते थे। इसके बाद एक आयोडिन युक्त रंगीन डाई (एक प्रकार का द्रव) का विकास हुआ। पुर्तगाली शल्यविशेषज्ञ इगास मुनीस ने पाया कि मस्तिष्क की ओर जाती हुई बड़ी रक्त-धमनी में इस डाई को इंजेक्ट कर मस्तिष्क के बहुत से रोगों



एंजिओग्राफी-तकनीक द्वारा मस्तिष्क की रक्त-वाहिकाओं का चित्रण



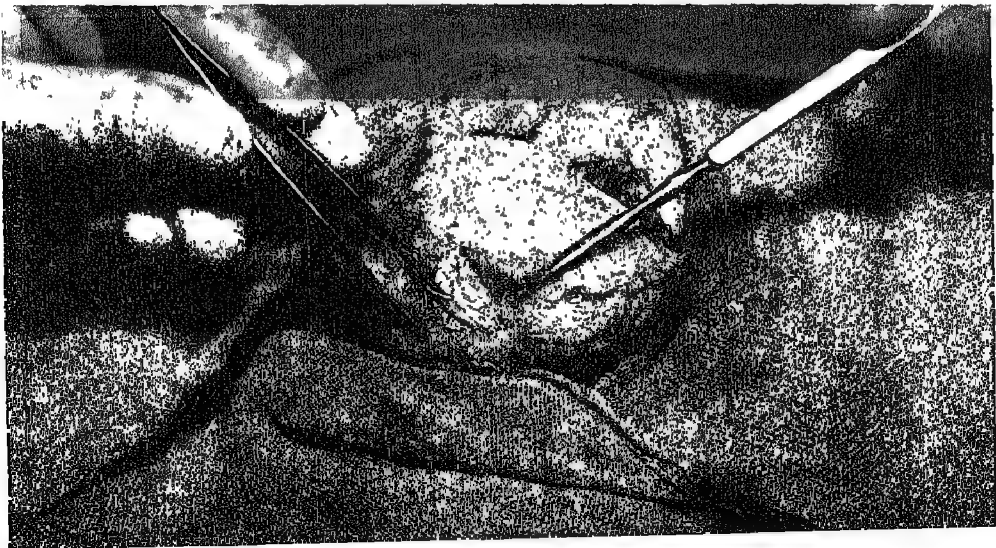
मस्तिष्क का आपरेशन (क्लोस-अप)

को पहचाना जा सकता है।

इसके लिए डाई इंजेक्ट करने के बाद समय-समय पर कुछ क्षणों के लिए एक्स-रे चित्र लेना काफी था। मुनीस की यह "मस्तिष्क-एंजिओग्राफी-तकनीक" इतनी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई कि उन्हें इसके लिए नोबेल पुरस्कार से अलंकृत किया गया। आज भी यह तकनीक मस्तिष्क रोग-निदान में उपयोगी है। सिर के चोट के रोगियों में मस्तिष्क के किस भाग में रक्त-धमनी फट गई है अथवा दबाव का केंद्र कहाँ बना हुआ है, यह जानने में इस तकनीक का आज भी उपयोग होता है। ट्यूमर के रोगियों में भी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण जानकारी इसके द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

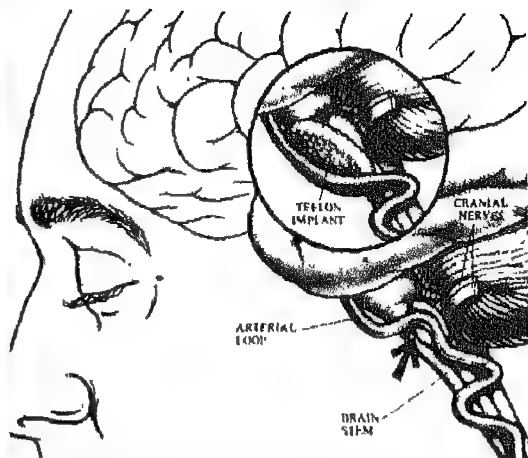
इन्हीं वर्षों में शल्यचिकित्सा में भी तेज़ी से सुधार होता रहा। विद्युत धारा से परिपूर्ण चाकू, जिसके स्पर्श कराते ही रोगग्रस्त भाग काटा जा सकता है और साथ ही रक्त-वाहिकाओं से हो रहे स्राव को रोका जा सकता है। बिजली से चलने वाला चूसन औज़ार जिससे रोगग्रस्त ऊतक (टिशू) अथवा एकत्रित मवाद व रक्त को चूस कर बाहर निकाला जा सकता है, जैसे बहुत से अत्याधुनिक शल्य औज़ार अब विकसित होते चले गए। आपरेटिंग माइक्रोस्कोप का आगमन भी न्यूरोसर्जरी में एक बड़ा प्रगतिशील कदम था। मस्तिष्क का आपरेशन करना एक अत्यंत ही जोखिम भरा काम है। सर्जन का चाकू ज़रा-सा भटका नहीं कि पता नहीं शरीर का कौन-सा भाग, कौन-सी ज्ञानेन्द्रिय, कौन-सी संवेदना को आघात पहुँच जाए। अतः न्यूरोसर्जन को हर समय बड़ी सूक्ष्मता के साथ काम करना पड़ता है। अब माइक्रोस्कोप के नीचे वह समूचा आपरेशन क्षेत्र कई गुना बड़ा दिखाई देने लगा है। इससे सर्जन के हाथ की सफाई और अधिक अचूक हो गई है। इसी तरह लेसर किरणों से भी न्यूरोशल्य-

मस्तिष्क का ट्यूमर जड़ से निकालने की सफल चेष्टा





मस्तिष्क के चित्र स्कैनर द्वारा



अब मस्तिष्क की बीमार हुई रक्त-वाहिकाओं में टेफलॉन जैसे कृत्रिम पदार्थों की मदद से जमा-घटा की जा सकती है

विशेषज्ञों को एक नया पैनापन मिल गया है।

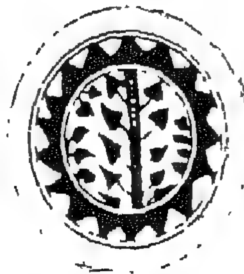
आज मस्तिष्क के बहुत से रोगों-जैसे सिर की चोट, मस्तिष्क की रक्त-धमनियों में उत्पन्न हुई रुकावट अथवा स्राव, वहाँ इकट्ठा हुआ मवाद तथा ट्यूमर-का उपचार न्यूरोशल्यविशेषज्ञ कुशलता के साथ कर रहे हैं। कैट स्कैनर यंत्र के विकास से न्यूरोविशेषज्ञों की रोग निदान क्षमता और अधिक बढ़ गई है।

मेरू-रज्जु के विभिन्न रोगों के उपचार में भी विकास होता गया है। रीढ़ की हड्डी से सुई के रास्ते, विशेष रंगीन डाई डाल कर अब मेरू-रज्जु का सूक्षमता से अध्ययन किया जा सकता है। तरह-तरह के रोगों की तह तक पहुँच कर न्यूरोशल्यविशेषज्ञ अब उनका उचित उपचार करने में सक्षम होते जा रहे हैं।



मस्तिष्क शल्यचिकित्सा करते हुए न्यूरोशल्यविशेषज्ञ

मस्तिष्क एवं मेरू-रज्जु से निकलने वाली तंत्रिकाओं के विकारों का उपचार भी न्यूरोशल्यविशेषज्ञ पूर्ण दक्षता के साथ कर रहे हैं। शरीर के हर भाग में फैली ये तंत्रिकाएँ ही मस्तिष्क एवं मेरू-रज्जु तक तरह-तरह के संदेश ले जाती हैं और उनसे आदेश प्राप्त कर शरीर की विभिन्न क्रियाएँ संपन्न कराती हैं। उनके रोगग्रस्त अथवा क्षतिग्रस्त होने से शरीर का वह भाग अपनी शक्ति खो बैठता है और साथ ही संवेदना-रहित हो जाता है। किंतु अब न्यूरोशल्यविशेषज्ञों ने तंत्रिकाओं की बहुत-सी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ निकाला है। मानव-मस्तिष्क रूपी कंप्यूटर के विभिन्न टर्मिनलों की सक्षमता बनाए रखने में आज न्यूरोसर्जरी अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।



हृदय शल्यचिकित्सा : एक और जीवनदान

बालक शिव, उम्र 12 वर्ष, गाँव-सासाराम, बिहार।
शिव ने जब से होश सँभाला है अपने को रोगों से घिरा हुआ पाया है। प्रायः उसे खाँसी, जुकाम रहता है। तनिक ज्यादा खेल-कूद ले, तो साँस फूलने लगती है। उसके माता-पिता ने उसे एक बाल-रोग विशेषज्ञ को दिखाया। ज्ञात हुआ कि उसकी इस स्थिति का कारण उसके हृदय में छिपा है। उसके हृदय में जन्म से ही एक सुराख़ है। विशेषज्ञ ने सलाह दी कि शिव को किसी बड़े शहर के अस्पताल में ले जाना होगा, जहाँ उसके दिल का आपरेशन किया जाएगा।

अब बहुत से जाँच-परीक्षणों के बाद वह दिन आ गया था, जब उसका आपरेशन होने वाला था।

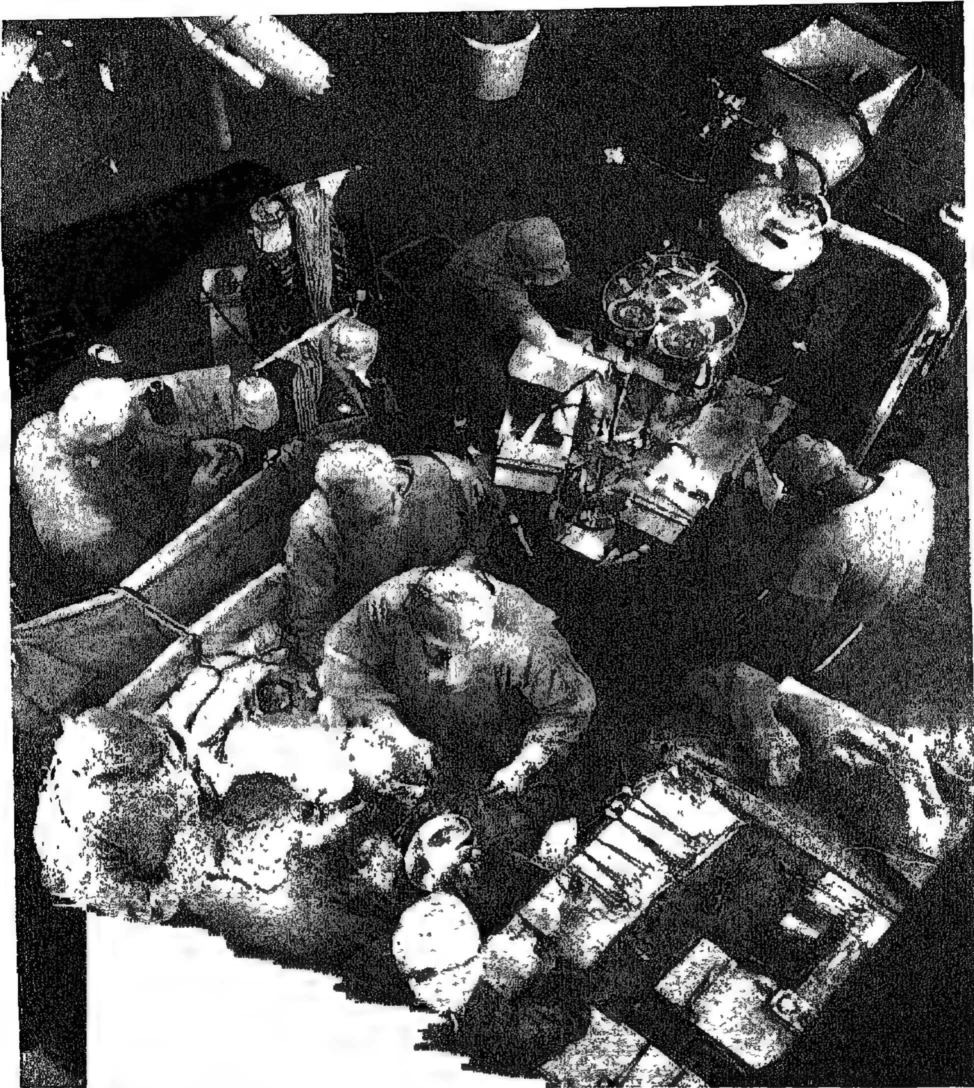
आज सुबह ही शिव को एक ट्राली द्वारा आपरेशन कक्ष में ले जाया गया। अब वह वहाँ आपरेशन शय्या पर चैन की नींद सो रहा था। उसके आस-पास नीला लिबास पहने आपरेशन से जुड़ा चिकित्सा-विशेषज्ञों का दल आपरेशन शुरू करने के लिए तैयार था।

उसके सिरहाने खड़ा था संवेदनाहारी विशेषज्ञ, या कहें बेहोशी का डाक्टर। उसने ही शिव को संवेदनाहारी औषधि दे मीठी नींद सुलाया है। आपरेशन जब तक पूरा नहीं हो जाता शिव इसी तरह अचेतन अवस्था में



शिव का आपरेशन शुरू हुआ

रहेगा। इस दौरान यह विशेषज्ञ ही उसकी देख-रेख करेगा। उसकी नब्ज़ ठीक-ठाक चल रही है, शरीर में ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में पहुँच रहा है, रक्त-चाप गिर तो नहीं रहा, मांस-पेशियाँ पर्याप्त रूप से ढीली तो हैं – यह समूची देख-रेख उसे ही करनी होगी। वह ही उसके जीवन का रखवाला होगा।



ओपन हार्ट सर्जरी का एक दृश्य। दांई तरफ हार्ट-लंग मशीन है

आपरेशन शय्या से कुछ दूर एक बड़ी-सी मशीन रखी हुई है। उसके पास एक टेकनिशियन खड़ा है। वह मशीन के कल-पुर्जों की जांच पड़ताल कर रहा है। इस मशीन का नाम है **हार्ट-लंग** (हृदय फेफड़ा) मशीन।

आपरेशन के दौरान यह मशीन ही शिव को जीवन देगी – उसके हृदय एवं फेफड़ों का कार्य-भार वह ही निभाएगी।

शिव के समीप ही सिस्टर (नर्स) खड़ी है। पास ही एक ट्राली लगी हुई है, जिस पर तरह-तरह के शल्य-औज़ार तैयार रखे हैं। चिमटीनुमा कैंची है, जो **हिमोस्टेट फॉरसेप्स** कहलाती है। चीर-फाड़ के दौरान होने वाले रक्त-स्राव को रोकने में वह काम आएगी। चिमटी है, जिससे वसा अथवा अन्य ऊतक हटाए जा सकेंगे। सुइयां हैं, जो टाँका लगाने में काम आएंगी। **रिट्रेक्टर** है, जिससे हड्डियां खोलने का काम लिया जाएगा। **स्केल्पल** है, जो शल्य चाकू का काम करेगा। **स्पॉन्ज** और **सक्शन ट्यूब** हैं, जिनसे आपरेशन क्षेत्र साफ रखा जाएगा।

तरह-तरह की पट्टियाँ, धागे, सिरिंज, दवाएं और बहुत से कई किस्म के शल्य औज़ार हैं। आपरेशन के दौरान जैसे-जैसे औज़ारों की आवश्यकता पड़ेगी, सिस्टर उन्हें शल्यचिकित्सकों के हाथों में देती जाएगी।

इधर आपरेशन शय्या के दोनों ओर कुछ कनिष्ठ शल्यचिकित्सक भी तैयार खड़े हैं। वही लिबास, हाथ में रबड़ के दस्ताने पहने, वे प्रमुख सर्जन की इंतज़ार में हैं। इनमें से एक **चीफ रेजिडेंट** है। आपरेशन के दौरान वह लगातार चीफ सर्जन का हाथ बँटाता है।

अब प्रमुख सर्जन भी वहाँ आ पहुँचे हैं। वे ऐसे बहुत से आपरेशन पहले भी कर चुके हैं। पूरी तैयारी देखने के बाद उन्होंने आपरेशन शुरू करने का संकेत दिया।

प्रमुख सर्जन के आदेश पर चीफ रेजिडेंट ने आपरेशन शुरू किया। शिव के दिल तक पहुँचने के लिए उसे उसकी छाती के मध्य में स्थित **स्टरनम** हड्डी (वक्षास्थि) काटनी होगी। वह सर्वप्रथम उस क्षेत्र की त्वचा की सफाई करता है। तीन बार उसे टिंचर आयोडिन एवं स्प्रिट के घोल से बारी-बारी से साफ कर, वह शिव की छाती के ठीक बीचो बीच चीरा



यूं दिखता है दिल

लगाता है। फिर चिमटी से त्वचा को ऊपर उठाते हुए, वह चिमटी और स्केल्पल की मदद से नीचे के ऊतक हटाता है और वक्षास्थि को काटते हुए, झिल्ली से घिरे दिल तक पहुँच जाता है।

इसके बाद वह झिल्ली में चीरा लगाता है, जिससे धड़कता हुआ दिल बाहर आ जाता है।

दिल तक शरीर के सभी भागों से दूषित रक्त लाने वाली दो महाशिराओं को पहचानने के बाद वह पल भर के लिए रुकता है। उसे उन महाशिराओं को दो नलियों द्वारा कृत्रिम हृदय-फेफड़ा मशीन से जोड़ना होगा। दिल के दूसरे छोर पर, बाएं निलय से निकलने वाली महाधमनी का मुँह भी आपरेशन के दौरान उसे धागे द्वारा बंद करना पड़ेगा। तभी शिव का दिल रक्त से खाली हो पाएगा और आपरेशन आगे बढ़ सकेगा। प्रमुख सर्जन की देख-रेख में वह यह दोनों ही काम पूरे करता है।

मनुष्य का हृदय एक तरह से दो पंपों के मेल से बना है। दाएँ पंप का ऊपरी भाग (आलिंद), शरीर के सभी भागों से दो महाशिराओं के रास्ते दूषित रक्त प्राप्त करता है। फिर इसका निचला भाग (निलय) रक्त को पंप

कर फेफड़ों में साफ होने के लिए भेज देता है। फेफड़ों में कार्बन डाईआक्साइड एवं ऑक्सीजन का आदान-प्रदान होता है। फेफड़ों से ऑक्सीजन-युक्त शुद्ध रक्त पहुँचता है बाएं पंप के ऊपरी भाग (बाएँ आलिंद) में। फिर इस पंप का निचला भाग (बायाँ निलय) इसे महाधमनी के रास्ते शरीर के कोने-कोने में पंप कर देता है।

हृदय आपरेशन के दौरान हृदय और फेफड़ों की यह महत्त्वपूर्ण भूमिका हार्ट-लंग मशीन निभाती है।

चीफ रेजिडेंट ने इसी उद्देश्य से दोनों महाशिराओं को इस मशीन से जोड़ दिया। अब नलियों के रास्ते शिव के शरीर से दूषित रक्त कृत्रिम फेफड़े में आने लगा।

कृत्रिम फेफड़े में ऐसी व्यवस्था होती है कि हर समय ऑक्सीजन के बुलबुले उठते रहते हैं। जैसे ही उसमें दूषित रक्त पहुँचता है, कार्बन डाईआक्साइड उसमें से बाहर निकल आती है और ऑक्सीजन उसके भीतर घुल जाती है। कृत्रिम फेफड़े के छोर पर एक ऐसा उपकरण भी लगा रहता है, जो बुलबुलों को अपने में समेट लेता है और उन्हें आगे नहीं जाने देता। यह उपकरण "**डीबबलर**" कहलाता है।

इस उपकरण से साफ हुआ शिव का रक्त अब आगे बढ़ा। वह अब एक ऐसे उपकरण से गुज़रने लगा, जहाँ उसका तापमान नियंत्रित किया जाना था। शरीर में पहुँचने से पहले रक्त का तापमान, शिव के शरीर के तापमान के समान करना आवश्यक था।

अब वह रक्त पहुँचा **रोलर पंप** में, जहाँ से एक नली के रास्ते उसे शिव के शरीर में पहुँचा दिया गया। इसके लिए इसी बीच शिव की महाधमनी में एक ऐसी ट्यूब डाल दी गई थी जो रोलर पंप से सीधी जुड़ी थी। इस तरह महाधमनी में पहुँच अब रक्त शिव के शरीर में सामान्य रूप से अपनी यात्रा पर निकल पड़ा।

शिव का हृदय अब तक पूरी तरह खाली हो गया था, क्योंकि सारा का सारा रक्त अब हार्ट-लंग मशीन से गुज़र रहा था। तब प्रमुख सर्जन ने उसके हृदय को स्तंभित (रोककर) कर उसकी धड़कन रोक दी।

अब प्रमुख सर्जन शिव के हृदय की सर्जरी करने में जुट गया। उसने उसके हृदय की मांस-पेशियों में एक छोटा-सा चीरा लगाया, जिससे दोनों निलय के बीच वह असामान्य सुराख़ स्पष्ट दिखने लगा।

इसी सुराख़ के कारण शिव के बाएँ पंप को अधिक काम करना पड़ रहा था। जब वह रक्त को आगे पंप करने के लिए सिकुड़ता, तो साफ हुआ रक्त पुनः इस सुराख़ के रास्ते दाएं पंप में पहुँच जाता। इससे फेफड़ों पर भी अधिक भार पड़ रहा था।

सर्जन को अब यही सुराख़ बंद करना था। उसने **डेक्रान** नामक एक प्लास्टिक के कपड़े जैसे ग्राफ्ट का एक टुकड़ा लिया। उसे उपयुक्त आकार देकर, उसने वह सुराख़ उससे बंद कर दिया और उस पर टाँके कस दिए। शिव का हृदय पूरी तरह सामान्य हो गया, उसका जन्मजात दोष दूर हो गया।

फिर एक के बाद एक दिल की मांस-पेशियों, उसकी झिल्ली, वक्षास्थि, ऊपरी ऊतक एवं त्वचा में वह टांके लगाता गया।

इस बीच शिव के हृदय के स्पंदन को पुनः सामान्य कर दिया गया था। उसके शरीर से जुड़ी कृत्रिम हृदय-फेफड़ा मशीन भी अलग कर दी गई थी। अब एक बार फिर शिव का हृदय एवं फेफड़े अपना काम करने लगे।

आपरेशन पूरी तरह सफल रहा और शिव कुछ ही दिनों में अपने गांव वापिस लौट आया। वर्षों बीत गए वह अब पूरी तरह स्वस्थ है।

आज हृदय सर्जरी सचमुच सफलता के चरम शिखर को छूने लगी है।



"ओपन हार्ट सर्जरी" (हृदय खोल कर उसकी शल्यचिकित्सा करने की विधि) का पहला आपरेशन सन् 1953 में अमेरीका में हुआ था। इस आपरेशन में डॉ० जॉन गिबन ने नवविकसित हार्ट-लंग मशीन का उपयोग करते हुए एक अठारह वर्षीय बालिका के दिल का सुराख़ बंद कर उसे नवजीवन दिया था। इसके बाद बहुत से देशों में तरह-तरह की कृत्रिम हृदय-फेफड़ा मशीनें विकसित हुईं और ओपन हार्ट सर्जरी का प्रचलन बढ़ता गया। हृदय में आलिंद और निलय के बीच, और निलय के निकास द्वार पर पाए जाने वाले वाल्व के भी कृत्रिम विकल्प विकसित किए गए। आने वाले वर्षों में यह शल्य शाखा नए बेहतरीन हृदय रोग-निदान उपकरणों, अधिक उन्नत शल्य औज़ारों और नई-नई शल्यतकनीकों से सुसज्जित होती रही। इसके परिणामस्वरूप अब हृदय के जटिल से जटिल आपरेशन संभव हो गए।

आज हृदयशल्यविशेषज्ञ जन्म से ही होने वाले अधिकतर हृदय विकारों को आपरेशन द्वारा दूर करने में सक्षम हो गए हैं। साथ ही, ऐसे हृदय रोग जो बाल्यावस्था अथवा बाद की ज़िंदगी में उत्पन्न होते हैं – जैसे **र्‍युमेटिक** हृदय रोग के कारण हृदय वाल्व बेकार हो जाना, हृदय की जीवनदायी **कोरोनरी** रक्त-धमनियों में उत्पन्न हुई सिकुड़न अथवा रुकावट के उपचार के लिए भी उन्होंने तरह-तरह की नई शल्य तकनीकें विकसित कर ली हैं। पिछले कुछ वर्षों से तो क्षतिग्रस्त हुए हृदय को



अब दिल की रोगग्रस्त रक्त-वाहिका बदली जा सकती है। चिमटी की पकड़ में है वह नई धमनी जो दिल के लिए नवजीवन बनेगी

बदलकर नया दिल लगाने के प्रयास भी किए जा रहे हैं।

अब बदलने लगे हैं मानव मशीन के कल-पुर्जे

"प्लास्टिक का या धातु का, धातु का या प्लास्टिक का........" वह गहरे सोच में डूबा है कि कौन सा दिल लगवाए ? हृदय आरोपण सर्जरी वार्ड में भर्ती उस रोगी के मन में बराबर कशमकश चल रही है। उसका अपना प्राकृतिक दिल इतना अधिक रोगग्रस्त हो चुका है कि अब उसे बदलने के अलावा कोई रास्ता नहीं है। कल शाम ही उसके चिकित्सक ने उससे यह पूछा था कि वह किस तरह का दिल लगवाना चाहेगा। उसे दोनों ही तरह के कृत्रिम दिलों के बारे में बता दिया गया था। अब निर्णय उसे लेना था। उसका मन कहता, "धातु का दिल लगवा लो, ज्यादा मजबूत रहेगा।" किंतु, दूसरे ही पल उसे सर्जन के शब्द ध्यान में आ जाते। "प्लास्टिक का हृदय क्रिया-दृष्टि से प्राकृतिक दिल के बहुत करीब है। मजबूत भी है।" निर्णय सचमुच ही कठिन था। वास्तव में वह कौन-सा दिल चुने... ?

सुविख्यात विज्ञान कथा लेखक डॉ० आइजेक एसिमोव द्वारा अपनी एक कहानी में प्रस्तुत की गई यह कल्पना पिछले कुछ वर्षों तक केवल कल्पना मात्र ही लगती थी। किंतु अब यह कल्पना साकार होती-सी दिखाई दे रही है। मनुष्य के बहुत से अंग अब बदले जा सकते हैं। शल्य-चिकित्सा की यह शाखा, जिसे अंग-प्रतिरोपण कहते हैं, तेजी से विकसित होती जा रही है।

आज अंग-प्रतिरोपण के दो रूप देखे जा सकते हैं। एक ओर जहाँ रोगी के शरीर में बेकार हुए अंगों के स्थान पर महर्षि दधीची जैसे दानी व्यक्तियों के शरीर से लिए गए अंग लगाए जा रहे हैं, तो दूसरी ओर कुछ अंगों के कृत्रिम विकल्प भी मिलने लगे हैं।

अंग प्रतिरोपण का एक पुराना इतिहास है। पौराणिक कथाओं में इसका उल्लेख हमेशा से ही मिलता है। भगवान शंकर द्वारा गणेश के शरीर पर हाथी का सिर प्रतिरोपित करने की घटना का चिर परिचित वर्णन "शिव-पुराण" के कुमार खण्ड में मिलता है। इससे यह संकेत मिलता है कि मनुष्य प्राचीन काल से अंग प्रतिरोपण की बात सोचता आया है। उसने पौधों की कलम बांधने की तकनीक बहुत समय पहले खोज ली थी। शायद इसी से उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ होगा कि क्यों न मानव में भी रोगग्रस्त अंगों की जगह किसी अन्य प्राणी से लिए गए अंग लगाए जाएँ। अंग-प्रतिरोपण के प्रामाणिक इतिहास पर नजर डालें, तो यह गौरवशाली तथ्य सामने आता है कि इसका शुभारंभ भारतवर्ष में ही हुआ। महान् चिकित्साशास्त्री सुश्रुत ही संभवतः वह पहले चिकित्सक थे, जिन्होंने प्रतिरोपण की दिशा में पहला कदम उठाया। आज इस तथ्य की सर्वत्र मान्यता है कि त्वचा आरोपण के पहले सफल आपरेशन उनके द्वारा ही किए गए थे।

किंतु सुश्रुत के चमत्कारी आपरेशनों के बाद एक लंबे अंतराल तक प्रतिरोपण के क्षेत्र में कोई अन्य उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ। अठारहवीं सदी में लंदन के सुविख्यात सर्जन जान हण्टर ने पहली बार **"ट्रांसप्लांट"** शब्द का प्रयोग कर नई चिकित्सा शाखा को उसका नाम दिया। इसके बाद इसी सदी के प्रारंभ में रक्त-वाहिकाओं को आपस में जोड़ने की जटिल शल्य क्रिया का जन्म हुआ। शल्यचिकित्सा में यह एक ऐसा कदम था, जिसने अंग-प्रतिरोपण को बढ़ावा देने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

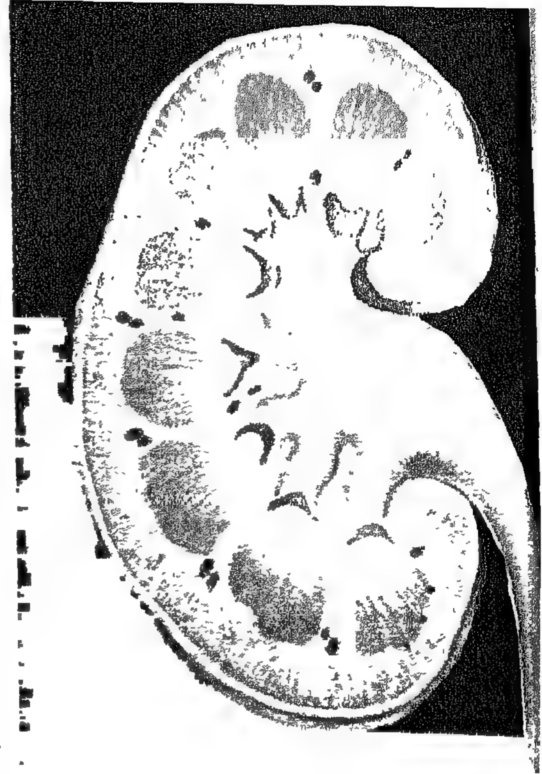
कुछ शल्यचिकित्सकों ने उत्साहवश जीव-जंतुओं (जैसे वन-मानुष) से लिए गए अंगों को मानव-शरीर में लगाने के प्रयास किए। किंतु ये प्रयास प्रायः असफल ही रहे। तब शल्यचिकित्सकों ने यह अनुभव किया कि प्रतिरोपण के लिए अंग मानव शरीर से ही लेने होंगे।

सन् 1923 में रूसी नेत्र सर्जन वाल्दीमिर फिलातॉव को कार्निया प्रतिरोपण में पहली अद्भुत सफलता मिली। उसमें एक मृतक की आँख से लिया गया स्वस्थ कार्निया, एक रोगी के नष्ट हुए कार्निया के स्थान पर लगाया गया। आने वाले वर्षों में गुर्दा बदलने के सफल-असफल प्रयास भी किए गए। पाया गया कि कई बार रोगी के शरीर में लगाया गया नया अंग कुछ ही समय बाद बेकार हो जाता। इसी शताब्दी के चौथे दशक में एक महत्त्वपूर्ण खोज हुई, जिससे इसका कारण स्पष्ट हुआ। इंग्लैण्ड के कुछ शोधचिकित्सकों ने मानव शरीर का एक और रहस्य प्रकट किया। उन्होंने यह महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत की कि शरीर में एक शक्ति है जो शरीर की बाहरी तत्वों से रक्षा करती है और प्रतिरोपित अंगों को भी बाहरी तत्व मान कर नष्ट कर देती है। इसी शक्ति को **इम्यून-प्रणाली** का नाम दिया गया। अंग-प्रतिरोपण का सपना साकार होने की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण खोज थी। अब इससे जुड़ा अनुसंधान जोर पकड़ता गया।

अमेरिका में दूसरे विश्व युद्ध के दौरान **स्टीराएड** औषधियों की खोज हुई। पाया गया कि प्रतिरोपण शल्यचिकित्सा के बाद इन औषधियों को देने से शरीर की इम्यून प्रणाली को दबाया जा सकता है, जिससे शरीर को नया अंग स्वीकार करने में बड़ी मदद मिल जाती है। शल्य तकनीकों में भी तेजी से सुधार होता गया और इस तरह अंग प्रतिरोपण के आधुनिक युग का शिलान्यास हुआ।

इन्हीं सफलताओं के परिणामस्वरूप आज मानव शरीर के बहुत से अंग बदले जा सकते हैं। रोगग्रस्त अंगों की जगह लगाए जाने वाले नए

स्वस्थ अंग प्रायः ऐसे मृतकों के शरीर से लिए जाते हैं, जिनकी मृत्यु दुर्घटनावश अथवा कम उम्र में ही हो गई हो। उनमें विशेष मशीनों से रक्त संचार एवं ऑक्सीजन प्रवाह उस समय तक बनाकर रखा जाता है, जब तक कि सर्जन आवश्यक अंग बाहर नहीं निकाल लेते। इसके लिए मृतक के सगे-संबंधियों से पूर्व अनुमति भी ली जाती है। इस दौरान मृतक की इम्यून प्रणाली का जायज़ा लिया जाता है। अस्पतालों में उन रोगियों की सूची रहती है, जो अंग प्रतिरोपण के लिए इंतज़ार कर रहे होते हैं। उनमें से जिस किसी की इम्यून प्रणाली मृतक की इम्यून प्रणाली से मेल खाती है, उसे प्रतिरोपण आपरेशन के लिए तुरंत बुला लिया जाता है।



गुर्दा

आज अंग प्रतिरोपण के क्षेत्र में सबसे अधिक सफलता कार्निया के प्रतिरोपण में मिल रही है। भारतवर्ष में भी बहुत से बड़े अस्पतालों में बेकार हुई कार्निया को बदलने के आपरेशन कुशलता के साथ किए जा रहे हैं। इसके लिए स्वस्थ कार्निया उन मृतकों की आँखों से लिए जाते हैं, जो अपने जीवन-काल में ही नेत्रदान के प्रतिज्ञा-पत्र पर अपनी सहमति दे चुके होते हैं। नेत्रदान की सुविधा देश के लगभग हर बड़े शहर में उपलब्ध है।

बहुत से लोग यह समझते हैं कि प्रतिरोपण के समय पूरी की पूरी आँख

को ही बदल दिया जाता है। किंतु ऐसा संभव नहीं है। और इसकी आवश्यकता भी नहीं है। एक सूक्ष्म आपरेशन द्वारा नेत्रसर्जन केवल रोगी की बेकार हुई कार्निया बाहर निकाल कर, उसके स्थान पर स्वस्थ पारदर्शी कार्निया लगा देते हैं। और रोगी को फिर सामान्य दृष्टि मिल जाती है।

आज गुर्दे बदलने के आपरेशन भी अधिकाधिक सफल होने लगे हैं। गुर्दे, शरीर के बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग हैं। सेम के आकार के और मुट्ठी-भर बड़े ये अंग वास्तव में शरीर के लिए एक कुशल रसायनशास्त्री से कम नहीं। अगर किसी कारणवश ये काम करना बंद कर दें तो जीवन चल पाना असंभव हो जाता है। ऐसे बहुत से रोग हैं, जिनके कारण गुर्दे खराब हो जाते हैं।

गुर्दों के अक्षम होने पर शरीर में हानिकारक रसायनों की मात्रा बढ़ती जाती है। यही कारण है कि रोगी की भूख मर जाती है, उसे थकावट और कमज़ोरी महसूस होने लगती है तथा मतली की शिकायत रहती है। साथ ही शरीर में जल की मात्रा बढ़ जाने से चेहरे और हाथ-पाँव पर सूजन आ जाती है एवं रक्तचाप भी बढ़ जाता है। समय पर उपचार न होने से गुर्दों की यह खराबी रोगी के लिए घातक बन जाती है। ऐसे रोगी के जीवन को बचाने के लिए एक ही रास्ता बचता है। वह है---गुर्दा-मशीन (**डायलिसिस**) द्वारा रोगी के पूरे रक्त को बारबार कुछ घण्टों बाद साफ करना। इससे रोगी का जीवन अत्यंत ही कष्टप्रद हो जाता है। वह पूरी तरह मशीन और अपने संबन्धियों पर आश्रित हो जाता है।

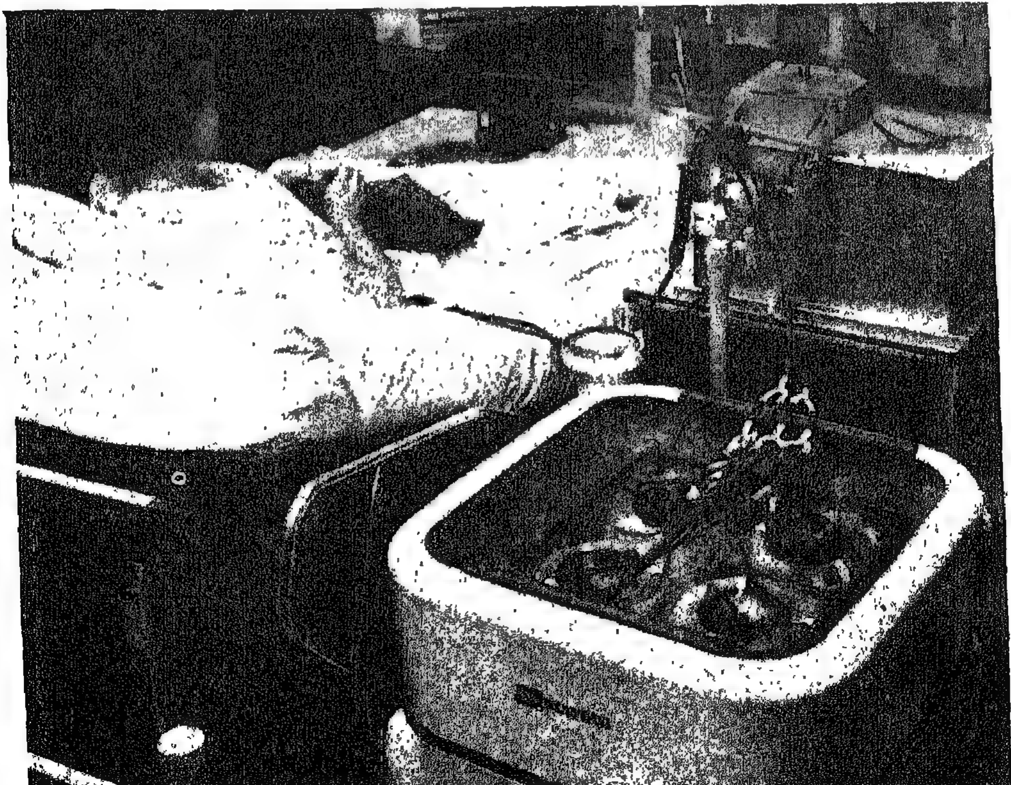
किंतु इस कष्टदायी स्थिति से उसे अब छुटकारा दिलाया जा सकता है। इसके लिए आवश्यकता पड़ती है, बीमार गुर्दे के स्थान पर स्वस्थ गुर्दा लगाने की।

आज के युग में गुर्दा-प्रतिरोपण कोई बहुत जटिल आपरेशन नहीं। लेकिन यह शोध-चिकित्सकों के अनेक सफल, असफल प्रयासों के बाद ही

संभव हो पाया है। सन् 1902 में गुर्दा प्रतिरोपण का पहला आपरेशन डॉ० उलमैन ने किया था। इसमें रोगी के शरीर में एक सूअर का गुर्दा लगाया गया था। इसके बाद सन् 1910 में एक बन्दर का गुर्दा लिया गया। मानव-शरीर ने बन्दर के गुर्दे का स्वाद चखा। लेकिन ये दोनों ही परीक्षण असफल रहे।

सन् 1933 में मानव-गुर्दे का पहला प्रतिरोपण किया गया। यह आपरेशन भी कम रोचक न था । इसमें एक रूसी सर्जन डॉ० वोरनॉए ने गुर्दे को रोगी की टाँग में लगाया। तब तक गुर्दे को नैसर्गिक स्थान पर लगाने

कृत्रिम गुर्दा मशीन





1954 में गुर्दा बदलने का पहला सफल आपरेशन इन समरूप जुड़वां भाइयों के बीच हुआ। साथ में हैं उनके शल्यचिकित्सक

की तकनीक विकसित ही नहीं हो पाई थी। यह विचित्र आपरेशन भी असफल रहा। इसके छह वर्ष बाद अमेरिका में डॉ० डेविड ह्यूम ने एक और प्रयोग किया। इसमें एक रोगी की बाँह में गुर्दा लगाया गया। वह प्रयोग भी कारगर सिद्ध नहीं हुआ। पहली सफलता मिली सन् 1954 में,

जब बोस्टन के पीटर बैण्ट ब्रिगहैम अस्पताल में समरूप जुड़वाँ भाइयों के बीच गुर्दे का प्रतिरोपण हुआ। तब से लेकर अब तक गुर्दे बदलने के हज़ारों सफल आपरेशन किए जा चुके हैं। आज विश्व के विभिन्न भागों में हर वर्ष लगभग पांच हज़ार रोगी इस आपरेशन द्वारा जीवनदान पा रहे हैं।

अब तो जिगर बदलने का आपरेशन भी संभव हो गया है।

पेट के दाहिने भाग के बिल्कुल ऊपरी हिस्से में, पसलियों से घिरा ज़िगर, शरीर का एक बड़ा अंग है। वज़न में सवा से दो किलोग्राम का यह अंग, कार्यक्षमता की दृष्टि से बहुमुखी है। बस, यूं समझो कि एक बड़ी रसायन कंपनी अगर ज़िगर के कुछ ही कार्य करना चाहे, तो उसे अपना प्लांट कई एकड़ भूमि में लगाना पड़ेगा, और वहाँ सैकड़ों केमिकल-इन्जीनियरों को दिन रात कड़ी मेहनत करनी पड़ेगी। कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन एवं फैट-मैटाबालिज्म की देख-रेख, प्रोटीन-विघटन से बने एक हानिकारक रसायन **'अमोनिया'** का यूरिया में बदलाव, रक्त-स्राव को थामने वाले क्लोटिंग तत्वों का निर्माण, आँखों को स्वस्थ रखने वाले विटामिन 'ए', लाल रक्त के कणों के निर्माण में सहायक विटामिन- 'बी-12' एवं लौह-तत्व के संग्रह का दायित्व-ये सभी कार्य ज़िगर ही करता है। इसके साथ ही वह भोजन को पचाने में एवं कुछ विटामिनों को सोखने में शरीर की मदद करता है, भ्रूणावस्था में लाल रक्त-कणों का निर्माण करता है, रोगाणुओं का विनाश करता है और लाल रक्त-कणों के विघटन से बने पदार्थ **बिलीरयूबिन** को शरीर से बाहर निकालने में सहयोग देता है।

जिगर अपना काम करना बंद कर दे तो शरीर में बिलीरयूबिन की अधिकता के कारण 'पीलिया' हो जाता है और हानिकारक पदार्थ इकट्ठे होते जाते हैं, शरीर के अंदर रक्त-स्राव शुरू हो सकता है, बेहोशी छा जाती है और कुछ समय बाद जीवन की लौ बुझने लगती है।

ऐसे बहुत से रोग हैं जो जिगर को क्षति पहुँचा सकते हैं। उनमें प्रमुख

हैं-सिरोसिस, हैपीटाइटिस, कैंसर एवं कुछ जन्मजात रोग। जिगर जब फेल होने लगता है, तो उस पर कोई भी दवा असर नहीं करती। ऐसी परिस्थिति में जीवन बचाने की केवल एक ही आशा शेष रह जाती है। बीमार जिगर के स्थान पर एक नया स्वस्थ जिगर प्रतिरोपित किया जाए।

पिछले बीस वर्षों में सिरोसिस, ट्यूमर अथवा जन्मजात जिगर-रोग से पीड़ित बहुत से व्यक्तियों में मृतकों के शरीर से लिए गए जिगर प्रतिरोपित किए जा चुके हैं।

अभी तक इस प्रतिरोपण में सीमित सफलता ही मिल सकी है। किन्तु वे व्यक्ति जिनमें यह आपरेशन सफल हो जाता है, प्रायः सामान्य जीवन जीने लायक हो जाते हैं।

क्रिया-दृष्टि से जिगर का शरीर में जिस अंग से बहुत करीब का रिश्ता है वह है पैनक्रियाज़। कार्बोहाइड्रेट मैटाबालिज्म में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इंसुलिन नामक हॉर्मोन इसी ग्रंथि में बनता है। यह हॉर्मोन शरीर के ग्लूकोस की मात्रा को नियमित रखता है। इसी हॉर्मोन की कमी से मधुमेह रोग उत्पन्न होता है।

मधुमेह के उपचार के लिए अबतक चिकित्सक इंसूलिन-इंजेक्शन या 'एंटी-डाइबीटिक दवाओं' पर निर्भर करते आए हैं। किंतु अब विशेषज्ञ पिछले दो दशकों से पैनक्रियाज़ प्रतिरोपण की दिशा में भी प्रयास कर रहे हैं। जंतु-परीक्षणों से यह प्रमाणित हो गया है कि पैनक्रियाज का इंसूलिन बनाने वाला अ़ंश एक जीव से दूसरे जीव में प्रतिरोपित किया जा सकता है। इससे यह आशा बंधी है कि अब पैनक्रियाज-अंश शीघ्र ही मनुष्य में लगाए जा सकेंगें।

किसी-किसी हृदय रोगी में हृदय की मांस-पेशियाँ इतनी अधिक रोगग्रस्त हो जाती हैं कि उन्हें किसी भी दवा अथवा शल्यक्रिया द्वारा सामान्य नहीं बनाया जा सकता है। ऐसे रोगियों में जीवन-ज्योति



दिल बदलने का आपरेशन

प्रज्वलित बनाए रखने के लिए आवश्यकता होती है रोगग्रस्त हृदय के स्थान पर एक नया स्वस्थ दिल लगाने की।

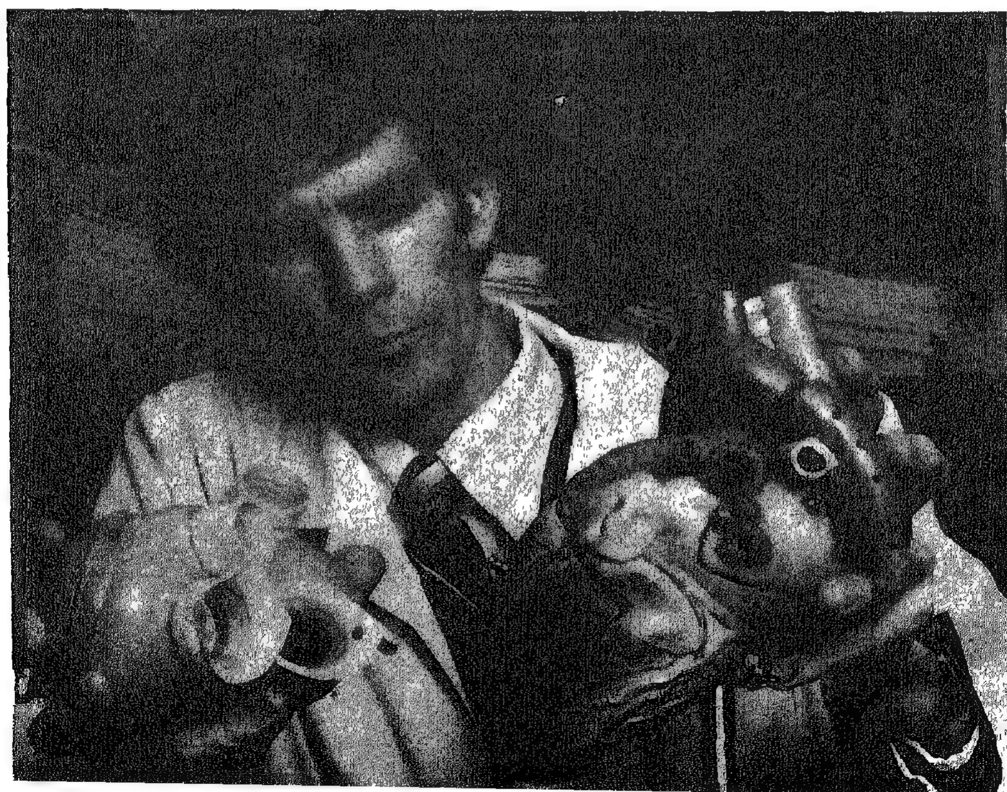
दिल बदलने का पहला सफल आपरेशन 3 दिसम्बर, सन् 1967 के दिन दक्षिण अफ्रिका के कैपटाऊन शहर के एक अस्पताल में किया गया था। आपरेशन करने वाले सर्जन थे डॉ० क्रिश्चन बर्नार्ड।

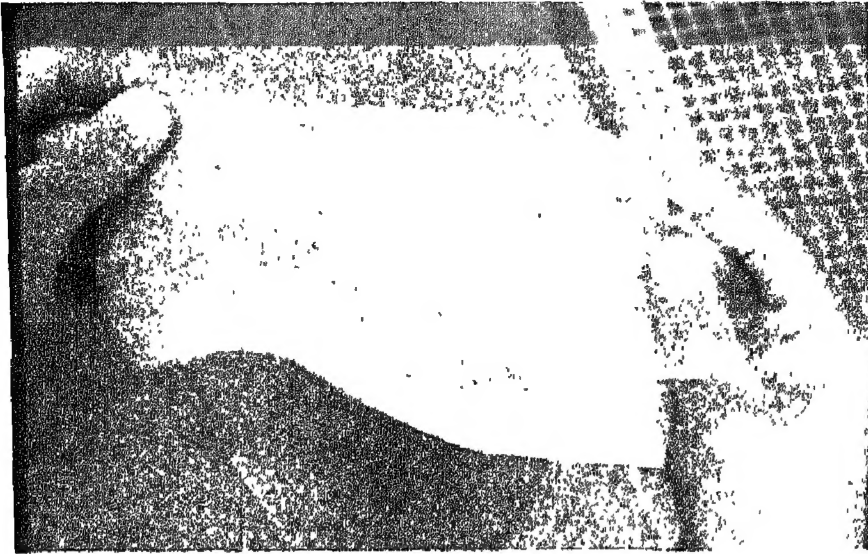
तब से सैकड़ों रोगियों को इस आपरेशन से नया दिल मिल चुका है। शल्यचिकित्सकों ने पाया कि आपरेशन के बाद लगभग पचास प्रतिशत रोगी स्वस्थ हो जाते हैं।

मानव-शरीर के सौन्दर्य एवं स्वरूप में अस्थि-पंजर का एक अपना अलग ही स्थान होता है। जीवनचर्या की बहुत सी गतिविधियां-जैसे चलना-फिरना, वज़न उठाना-हड्डियों और जोड़ों द्वारा ही संपन्न की जाती हैं। इसके अलावा हड्डियों में ही मज्जा का वास होता है, जहाँ रक्त-कण बनते हैं।

हमारा अस्थि-पंजर बहुत-से कारणों से विकृत हो सकता है। चोट, इंफैक्शन, ट्यूमर अथवा कुछ जन्मजात रोग हड्डियों को नष्ट कर सकते हैं। इनमें से कुछ रोग ऐसे भी हैं, जिनका औषधियों अथवा

हाथ में है कृत्रिम हृदय





कृत्रिम त्वचा – प्राकृतिक त्वचा जैसी

आपरेशन द्वारा पूर्ण उपचार संभव नहीं।

ऐसे रोगियों में खोखली हड्डी को भरने के लिए अथवा उसे नया सामान्य रूप देने के लिए अब शल्यचिकित्सक हड्डियों की कलम लगाने लगे हैं। रोगग्रस्त हड्डी के अंश को निकाल कर उसकी जगह अब वे किसी अन्य हड्डी से लिए गए अंश प्रतिरोपित करने लगे हैं।

हड्डी की यह कलम या तो उसी व्यक्ति की किसी स्वस्थ हड्डी से या किसी अन्य दानी व्यक्ति की हड्डी से ली जाती है। यह कलम धीरे-धीरे बड़ी हो जाती है और हड्डी को पुनः स्वस्थ बना देती है।

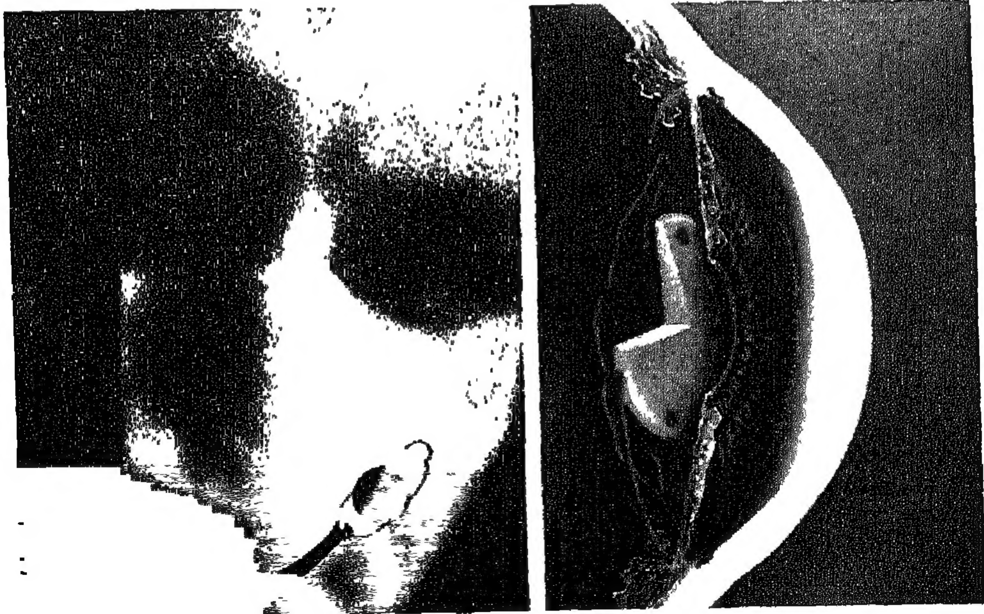
आजकल बहुत-से अस्पतालों में अस्थि-बैंक भी हैं, जहाँ विभिन्न प्रकार की हड्डियाँ सावधानी के साथ रखी जाती हैं। इन बैंकों का स्रोत ऐसे

दाता व्यक्ति होते हैं, जो अपनी हड्डियाँ इनको अपनी वसीयत में लिख जाते हैं।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर में नई इम्यून-प्रणाली-विरोधी दवाओं और शल्य तकनीक में विकास के साथ साथ अंग-प्रतिरोपण अब प्रगति की चरम-सीमा की ओर अग्रसर होता जा रहा है। किंतु एक समस्या अब भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है-प्रतिरोपण के लिए पर्याप्त संख्या में अंग कहाँ से जुटाए जाएं ?

इसी महत्त्वपूर्ण समस्या का समाधान ढूँढ़ने के लिए कुछ शोध-चिकित्सक एवं बायोमेडिकल इंजीनियर पिछले कई दशकों से कृत्रिम अंगों

आँख के भीतर प्लास्टिक का लैंस





बनावटी टाँग – हम चले हैं पर्वतारोहण के लिए

के विकास कार्य में जुटे हुए हैं। उनकी कड़ी लगन एवं मेहनत के फलस्वरूप अब कुछ कृत्रिम अंग पूर्ण रूप से विकसित हो चुके हैं। शरीर के बाहरी अंग जैसे टाँग-बाँह, हाथ और पैर तो एक लंबे समय से बनते ही आए थे, किंतु अब शरीर के जटिल भीतरी अंग जैसे जोड़, स्वरयंत्र, रक्त, रक्त-वाहिकाएँ, आँख व कान के भाग, पहनी जा सकनेवाली गुर्दा मशीनें भी सर्वत्र उपलब्ध होती जा रही हैं। हृदय एवं पैनक्रियाज जैसे अत्यंत ही जटिल अंगों के कृत्रिम विकल्प भी अब विकास के अंतिम दौर में हैं। इन्हें देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि अब वह दिन दूर नहीं जब शरीर के अधिकतर अंग उसी तरह मिलने लगेंगे जैसे कि किसी मशीन के कल-पुर्जे।